अहिंसा-पर्यवेक्षण

[प्रागैतिहासिक काल से गांधी-युग तक : अहिंसा पर एक शोधपूर्ण अध्ययन]

लेखक
मुनिश्री नगराजजी

सम्पादक
मुनिश्री महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम'

साहित्य निकेतन
४०९३, नयाबाजार, दिल्ली

प्रकाशक
मोहनलाल बाफणा
संचालक
साहित्य निकेतन
४०६३, नयाबाजार, दिल्ली

(श्री सुमेरचन्द्रजी जैन, दिल्ली के आर्थिक सौजन्य से)

प्रथम संस्करण १०००
सन् १९६२

मूल्य : तीन रुपये

मुद्रक
श्यामकुमार गर्ग
राष्ट्रभाषा प्रिन्टर्स
क्वींस रोड, दिल्ली

प्राक्कथन

आचार्यप्रवर के कलकत्ता-प्रवास की बात है। काशीपुर मे आचार्यप्रवर के सान्निध्य मे तेरापथ द्विशताब्दी साहित्य के सम्बन्ध मे चिन्तन हो रहा था। कुछ एक हम साधुजन व कुछ-एक साहित्य-सेवी श्रावक उसमे भाग ले रहे थे। चर्चा-प्रसग मे आचार्यप्रवर ने कहा अनुकम्पा चौपई को आधुनिक भाव-भाषा और शोधपूर्ण आधारो के साथ सर्वसाधारण के सम्मुख रखा जा सके, यह अत्यन्त अपेक्षित है। यही चर्चा-प्रसग मेरी ओर आ ढला और मुझे इस कार्य के लिए समुद्यत होना पडा। 'जैन दर्शन और आधुनिक विज्ञान'-सम्बन्धी कार्य सम्पन्न होने के पश्चात् महावीर और बुद्ध विषय पर एक तुलनात्मक और शोधपूर्ण अध्ययन मे मैं अपने-आपको लगा चुका था। एकाएक उस विषय से मुडकर इस ओर लगना अधिक सहज तो नही लगा, पर उसके पीछे लगा रहा। आचार्यप्रवर का इगित उसे बहुत भारवान् बना चुका था। तेरापथ द्विशताब्दी के सम्बन्ध से मैं कुछ लिख सकू, यह अन्तर्भूत प्रेरणा भी प्रसग पाकर प्रखर हो उठी और मैं शेष साहित्य-कार्य स्थगित कर इस ओर दत्तचित्त हुआ।

कलकत्ता-चातुर्मास मे इस सम्बन्ध से विशेष कार्य न हो सका। आचार्यप्रवर के सान्निध्य मे चलनेवाली अनेक प्रवृत्तियो से सम्बद्ध होने के कारण प्रस्तुत कार्य गौण ही रह सकता था। केवल अनुकम्पा चौपई का अनुवाद-मात्र वहा हो सका। चातुर्मास के पश्चात् कलकत्ता से राजस्थान का प्रलम्बतर विहार-प्रसग था। शीत ऋतु के छोटे-छोटे दिन और प्रतिदिन दोनो समय के बडे-बडे विहार, साहित्य-सर्जन के लिए बचा-खुचा समय पैरो की मरहम-पट्टी मे लग जाता था। फिर भी अनुकम्पा चौपई के साकेतिक घटना-प्रसग इस अवधि मे लिख लिये गए।

सरदारशहर मे आचार्यप्रवर के आदेशानुसार वि० सवत् २०१७ के चातुर्मास-प्रवास के लिए हम दिल्ली आये। यहा लेखन-कार्य के लिए अनुकूल वातावरण रहा। वाछित ग्रन्थ-सामग्री सुलभ हुई। आषाढ शुक्ल पक्ष मे 'अहिसा-पर्यवेक्षण' का लेखन-कार्य प्रारम्भ हो गया। अणुव्रत-कार्यक्रम स्थगित-जैसा ही

रहा। चिन्तन, लेखन और ग्रन्थावलोकन की अतिशय प्रवृत्ति से स्वास्थ्य पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। लेखन-कार्य बीच में रोक देना पड़े, ऐसी स्थितियाँ भी आईं, पर ऐतिहासिक उपक्रम कार्य की मनोरमयता ने मुझे बचाया और कार्य को भी पूरा करा दिया। इस प्रवृत्ति में मुझे जितना श्रम उठाना पड़ा, उससे अधिक मैं लाभान्वित भी हुआ। अनेकानेक ग्रन्थों का स्वाध्याय हुआ और ज्ञान बढ़ा।

'अहिंसा-पर्यवेक्षण' अहिंसा के असाधारण विवेचक आचार्यश्री भिक्षु-कृत 'अनुकम्पा चौपई' के उपोद्घात के रूप में लिखा गया है। यह उस सानुवाद चौपई और आवश्यक उद्धरणों के साथ मिलकर 'अहिंसा-विवेक' बन गया है। 'अहिंसा-पर्यवेक्षण' अनुकम्पा चौपई का एक अध्ययन होने के साथ-साथ अहिंसा के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालने वाला एक स्वतन्त्र ग्रन्थ भी है। इसमें ऐतिहासिक सन्दर्भ में अहिंसा-सम्बन्धी युग-युग की धारणाओं पर विचार किया गया है। आगमकाल से लेकर आचार्यश्री भिक्षु और महात्मा गांधी तक के अहिंसा विषयक धारणाओं और निर्णयों का इसमें ब्योरा है। वस्तुस्थिति के विश्लेषण में साम्प्रदायिक आग्रह मन पर हावी न हो जाये, यह पूर्ण ध्यान रखा गया है। समीक्षा से आनेवाले तथ्य अत्यन्त कुछ नवीन हैं। वैदिक और जैन संस्कृति की ऐतिहासिक धारणाएँ सहज रूप से हमारे सामने आती हैं। अहिंसा का आगमिक और औपनिषदिक रूप निवर्तक, जिसे मैंने आत्म-उन्नायक शब्द से लिखा है, प्रमाणित होता है। प्रवर्तक रूप, जिसे मैंने देहपोषणनायक दया कहा है, नितान्त उत्तरकालिक ठहरता है। वैदिक और जैन अहिंसा के अपवादस्त अपवाद-संयोजन को प्रसंगोपात्त यथास्थान स्पष्ट किया गया है। यह ग्रन्थ साम्प्रदायिक चिन्तनों से ऊपर उठे लोगों के लिए सत्यान्वेषण का ही विषय होगा, ऐसी आशा है। अतीत की शोध और समीक्षा का विषय बराबर चला जाये, यह एक युग-सत्य है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में मेरा भाग केवल विचारों को बोल देने भर का है। पाण्डुलिपि से लेकर सम्पादन तक का सारा कार्य मेरे सहयोगी मुनियों का ही है। मुनि महेन्द्रकुमारजी 'द्वितीय' ने सम्बन्धित अंग्रेजी ग्रन्थों के जुटाने एवं उनके अवलोकन में हाथ बँटाया। आवश्यक परिशिष्ट तैयार किये। मुनि मानमलजी ने सम्बन्धित ग्रन्थों का आलोडन और प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखन-कार्य में लगभग मेरे जितना ही श्रम उठाया है। मुनि हर्षचन्द्रजी का भी लेखन-कार्य में उल्लेखनीय योग रहा है।

सम्पादन का सारा कार्य मुनि महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम' का है। उन्होंने अब तक मेरी और भी कई पुस्तकों का निष्काम और निर्भीक सम्पादन किया है। इस पुस्तक के कार्य में अनेकशः समग्र ग्रन्थ उन्हें पढ़ जाना पड़ा है। उपयोगी सुझाव भी उन्होंने मुझे दिये हैं।

इस ग्रन्थ के लेखन में विभिन्न भाषाओं और विभिन्न विषयों के एक सौ सोलह ग्रन्थ योगभूत हुए हैं। मैं उन सबके रचयिताओं का यथोचित आभारी हूं।

— मुनि नगराज

सं० २०१८, कार्तिक पूर्णिमा
नया बाजार, दिल्ली

सम्पादकीय

अहिंसा का इतिहास उतना ही पुराना है, जितना कि मानव-जाति का। समय-समय पर यहां अनेकों युगपुरुष होते रहे हैं और वे अहिंसा के स्वर को उदात्त करते रहे हैं। इसलिए इसका इतिहास बहुत लम्बा चलता है। वह जितना शालीन है, उतना रोचक भी। अढाई हजार वर्षों का, भगवान् महावीर व गौतम बुद्ध के युग से आज तक का, व्यवस्थित क्रम तो हमारे सामने है ही। हडप्पा व मोहन-जोदडो के भग्नावशेष जिनका कि कालमान उससे भी सहस्रों वर्ष पूर्व का है, अपने आप मे अहिंसा की विमल धारा समेटे हुए है। वेद, उपनिषद्, आगम व त्रिपिटक अहिंसा के विश्लेषण मे भरे हैं। सम्राट् अशोक, लोकमान्य तिलक व महात्मा गाधी ने कर्म के क्षेत्र मे उसके विभिन्न प्रयोग किये। आचार्यश्री भिक्षु ने चले आ रहे प्रवाह मे फिर से एक नया मोड दिया। शकराचार्य व गीता की भी अपनी एक निराली मीमासा है। आधुनिक समाज शास्त्र मे भी दया-दान-सम्बन्धी चिन्तन ने एक नयी करवट ली है।

आज का जिज्ञासु उसके इतिहास को आद्यन्त और निष्कर्ष-रूप से एक साथ देखना चाहता है। मुनिश्री नगराजजी ने 'अहिसा-पर्यवेक्षण' के प्रस्तुत उपक्रम मे अहिसा-महासागर के मन्थन से उद्भूत अमृत को इस गागर मे भरने का अनूठा अनुष्ठान किया है। मुनिश्री ने विभिन्न युगो मे शब्द-भेद से होने वाले इस चिन्तन को ऐतिहासिक क्रम मे नयी शैली मे सदृब्ध किया है। साप्ताहिक हिन्दुस्तान ने 'अहिसा-पर्यवेक्षण' को लेखमाला के रूप मे प्रारम्भ करते हुए लिखा था "समय-समय पर अनेकानेक युगपुरुष शब्द-भेद से अहिसा का नया चिन्तन प्रस्तुत करते रहे हैं। भगवान् श्री महावीर ने निवृत्ति, गौतम बुद्ध ने करुणा, ईसामसीह ने सेवा, शकराचार्य ने ज्ञान मार्ग, गीता ने लोक-सग्राहक दृष्टि, आचार्य भिक्षु ने निरवद्य, लोकमान्य तिलक ने कर्मयोग और महात्मा गाधी ने सत्य आदि शब्दो के वैविध्य मे अहिसा-नवनीत प्रस्तुत किया है। व्यस्तता-प्रधान युग मे अहिसा-सम्बन्धी विविध ग्रन्थो का स्वत स्वाध्याय न कर सकने मे असमर्थ व्यक्ति के लिए मुनिश्री नगराजजी ने प्रागार्य-सस्कृति से आरम्भ कर वर्तमान गाधी-युग तक के अहिसा-

चिन्तन को थोड़े शब्दों में तत्सम्बन्धी ग्रन्थों के सन्दर्भ के साथ बहुत ही सरस और नयी शैली से एक सूत्र में पिरोकर 'अहिंसा-पर्यवेक्षण' प्रस्तुत किया है। मुनिश्री नगराजजी मुनि-परम्परा के वाहक हैं, अत. विभिन्न दर्शनों और धर्मों का गहरा अनुशीलन उनकी अपनी निधि है ही, किन्तु वह जितने दर्शनधर्मा हैं उतने ही आधुनिक विचार-सरणियों और विशेषत. गांधीवाद और आधुनिक सैद्धान्तिक विज्ञान के अधिकारी विद्वान् भी हैं।"

मुनिश्री नगराजजी विचारों की तलस्पर्शी गहराई तक पहुँचने वाले एक मनीषी हैं, पर वे पाठक को आदि से अन्त तक भाषा के राजमार्ग पर ही लिये चलते हैं। दुर्गमता और बीहड़ता एक ओर रह जाती है। उनका यह प्रयास अहिंसा-सम्बन्धी अब तक लिखे गये ग्रन्थों में नूतन होगा, ऐसी आशा है। मुनिश्री के सान्निध्य में जहां मुझे अनेकों कार्य-दिशाएं मिली हैं, वहां सम्पादन के क्षेत्र में मैं जहां तक पहुंच पाया हूं, उसका श्रेय भी उन्हें ही है।

५ दिसम्बर '६१ — मुनि महेन्द्रकुमार 'प्रथम'

कठौतिया-भवन, सब्जीमण्डी

दिल्ली

अनुक्रम

अहिंसा-पर्यवेक्षण

प्राणीमात्र की जिजीविषा[1] और भव-मुमुक्षु की कषाय-विजिगीषा[2] से आविर्भूत यह अहिंसा की धारा कालक्रम के साथ नाना अवरोहो और आरोहो मे सतत प्रवाही रही है। इतिहास के राजमार्ग पर लाकर इसके उन्मेष और निमेषो का जब हम चिन्तन करते हैं तो इसकी दार्शनिक जटिलताए दूर हो जाती हैं और इसका सहज स्वरूप हमारे सामने आ जाता है। इतिहास केवल अतीत की काल-गणना का ही ब्योरा नही देता, कभी-कभी वह वर्तमान की यथार्थता का भी मानदण्ड बन जाता है।

आगमिक धारणा

आगमिक और पौराणिक धारणा के अनुसार उत्सर्पण और अवसर्पण के प्रत्येक काल-चक्रार्ध मे चौबीस तीर्थंकर होते हैं और वे सभी उपदेश करते हैं प्राण, भूत, जीव, सत्वो की हिंसा न करो, उन पर शासन मत करो, उनको पीडित मत

१. क. सव्वे जीवा वि इच्छन्ति, जीविउ न मरजिउं।
तम्हा पाणिवहं धोरं, निग्गन्था वज्जयन्तिणं ॥ दस० ६ १०

ख. सव्वे पाणा पियाउया सुहसाया दुह पडिकूला अप्पियवहा पिय जीविणो जीविउ कामा। सव्वेसि जीविय पिय, नाइवइज्ज किंचणं।
आचा० १ २. ३.

ग. जिजीविषा पर विशेष 'अहिंसा और धर्म का प्रयोजन' प्रकरण में।

२. क. कोहोय माणो य अणिग्गहीया माया य लोभो य पवड्ढमाणा।
चत्तारि एए कसिणा कषाया सिञ्चन्ति मूलाइं पुणब्भवस्स ॥
दस० ८. १०.

ख. यः खलु कषाययोगात् प्राणानां द्रव्यभावरूपाणां।
व्यपरोपणस्य करण सुनिश्चिता भवति सा हिंसा ॥
पुरुषार्थ सिद्धयुपाय श्लोक ४३

ग. कषायमुक्तिः किल मुक्तिरेव

करो, उन पर प्रहार मत करो, यही धर्म शुद्ध है, नित्य है और शाश्वत है।[1]

वर्तमान काल-चक्र के प्रथम तीन अध्यायों (आरों) में इस भरत भूमि पर यौगलिक सभ्यता रही। इस समय नर और नारी युगल के रूप में पैदा होते और तारुण्य पाकर वही युगल दम्पति रूप में बदल जाता। कल्पवृक्ष ही उनकी इच्छाएं पूरी करते। वे रोगी नहीं होते। उनका प्राणान्त केवल एक छींक व एक जम्भाई होता। वे बहुत सुन्दर होते। कषाय-तनुता की स्वल्पता में उनका प्राकृतिक जीवन बहुत सुखी होता। उनमें सहज सन्तोष होता, पर ही सत्य-व्यवहार में उनके न तो धर्म विवक्षा होती और न धर्म शुश्रूषा। तात्पर्य उन सहजगामी युगलों के जीवन में न तो हिंसा की व्यवस्था थी और न अहिंसा का विहित विकास।[2]

मानव-सभ्यता का उदय

इस कालचक्र के तीसरे अध्याय के अन्त में यौगलिक सभ्यता समाप्त हुई और मानव-सभ्यता का उदय हुआ। प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभनाथ प्रभु ने अपने शासकीय जीवन में लोगों को कर्म का प्रशिक्षण दिया, जो कि इस मानव-सभ्यता के प्रथम राजा थे। तभी से कृषि, वाणिज्य, शास्त्र तथा शिल्प प्रभृति कर्मों का प्रारम्भ समाज में हुआ। आदिनाथ प्रभु ने ही अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को बहत्तर कलाओं का, द्वितीय पुत्र बाहुबली को शरीर-लक्षणों का, पुत्री सुन्दरी को गणित का तथा ब्राह्मी को सर्व प्रथम लिपि का ज्ञान दिया।[3] कहा जाता है, वही ब्राह्मी लिपि अब तक प्रचलित है और नाना लिपियों के रूप में उसका विकास हुआ है।

---

१. सव्वे पाणा, सव्वे भूया, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता न हंतव्वा,
न अज्जावेयव्वा, न परिघेतव्वा, न परियावेयव्वा, न उद्दवेयव्वा।

आचा० १. ४. १

२ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, कालाधिकार तथा त्रिषष्टिशलाका पुरुष० पर्व १ सर्ग २ श्लोक १०६ से १२८

३. क त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र पर्व १ सर्ग २ श्लोक ९२५ से ९७०

ख तेवट्ठि पुव्वसय सहस्साइं महाराय वासमज्झे वसइ, तेवट्ठि पुव्वसय सहस्साइं महाराय वासमज्झे वसमाणे लेहाइआओ गणिअप्पहाणाओ सउणरुअ पज्जवसाणाओ बावत्तरियकलाओ चोसट्ठिं महिला गुणे, सिप्पसयच कम्माणे तिण्णिवि पयाहिआए उवदिसइ।

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, कालाधिकार

अब तक के समाज मे अहिंसा धर्म का उपचरित उदय नही था, पर वाणिज्य आदि कर्मों के साथ-साथ उसके उदय की अपेक्षा समाज मे अवश्य हो चली थी। राजा ऋषभ ने कर्म-प्रवर्तन के अनन्तर ही धर्म-प्रवर्तन का बीडा उठाया और वे राज्य, स्त्री, पुत्र, स्वर्ण, रजत आदि को छोडकर इस श्रमण संस्कृति के प्रथम श्रमण बने। सुदीर्घ तप साधना से कैवल्य प्राप्त कर तीर्थंकर बने और अहिंसा धर्म का प्रवर्तन किया। उसके बाद काल-प्रवाह के साथ-साथ मनुष्य की भोगैषणा समय-समय पर बढती रही व अहिंसा धर्म का अपवर्तन होता रहा और एक के बाद एक होने वाले तीर्थंकर उसे उद्वर्तन देते रहे। यह है अहिंसा के निमेष और उन्मेष की जैनी गाथा।

वैदिक संस्कृति और श्रमण संस्कृति

जैन-धारणा के अनुसार वैदिक संस्कृति भी श्रमण संस्कृति से बहुत दूर की वस्तु नहीं रही है। ऋषभनाथ स्वामी के युग मे ही भरत चक्रवर्ती ने उनकी वाणी का चार वेदो के रूप मे संकलन किया और उसने ही ज्ञान, दर्शन और चारित्र के प्रतीक यज्ञोपवीत का प्रवर्तन किया।[1] वे वेद बहुत वर्षों तक श्रमण संस्कृति के

१. ज्ञानदर्शनचारित्रलिङ्गं रेखात्रयं नृपः।
वैकक्ष्यमिव काकिण्या, विदधे शुद्धिलक्षणम्॥
अर्द्धवर्षेऽर्द्धवर्षे च, परीक्षां चक्रिरे नवाः।
श्रावकाः काकिणीरत्नेनाऽऽलम्भ्यन्त तथैव हि॥
तल्लांछना भोजनं ते, लेभिरेऽथाऽपठन्निदम्।
जितो भवानित्याद्युच्चै र्माहनास्ते ततोऽभवन्॥
निजान्यपत्यरूपाणि, साधुभ्यो ददिरे च ते।
तन्मध्यात् स्वेच्छया कैश्चिद्, विरक्तैर्व्रतमाददे॥
परीषहासहैः कैश्चिच्छ्रावकत्वमुपाददे।
तथैव बुभुजे तैश्च, काकिणीरत्नलाञ्छितैः॥
भूभुजा दत्तमित्येभ्यो, लोकोऽपि श्रद्धया ददौ।
पूजितैः पूजितो यस्मात्, केन केन न पूज्यते?
अर्हत्स्तुतिमुनिश्राद्धसामाचारीपवित्रितान्।
आर्यान् वेदान् व्यधाच्चक्री, तेषां स्वाध्यायहेतवे॥
क्रमेण माहनास्ते तु, ब्राह्मणा इति विश्रुताः।
काकिणीरत्नलेखास्तु, प्रापुर्यज्ञोपवीतताम्॥
— त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्रम् पर्व १ सर्ग ६ श्लोक २४१ से २४८

आधार ग्रन्थ रहे। धीरे-धीरे रूपान्तर पाते हुए एक स्वतन्त्र संस्कृति के आदि शास्त्र बन गए[1] और दोनो परम्पराओ की हिंसा और अहिंसा की व्याख्याओ मे बहुत बड़ा अन्तर आ गया। सम्भव है, इन पौराणिक उदन्तो मे अधिक यथार्थता न हो, पर जबकि आज हम उस युग की यथार्थताओ को खोजने सुमेरियन[2] और बाबिलोनियन[3] सभ्यता के पुरावे ढूंढते हैं और उनके आधार पर अपनी कल्पनाए जोड़ते हैं तो यह उचित नहीं कि भारतीय परम्पराओ मे मिलनेवाले तथा प्रकार के उदन्तों को केवल पौराणिक कल्पनाए कहकर यो ही छोड़ दें। हो सकता है, उन अभिमत कल्पनाओ के नीचे भी कोई यथार्थ आधार निकल आए और हमे किसी वास्तविकता तक पहुचने के लिए वह एक ऐतिहासिक तथ्य बन जाए।

ऐतिहासिक दृष्टि

आर्यो का आगमन

मेक्समूलर तथा अन्य पाश्चात्य विद्वानो की गवेषणाओ ने यह तो सर्वसम्मत

१. वेदाश्चार्हत्स्तुतियतिश्राद्धधर्ममयास्तदा।
पश्चादनार्या सुलसायाज्ञवल्क्यादिभिः कृता:॥२५६॥

त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्रम् पर्व १ सर्ग ६

२. Some hold that they (people of Indus civilization) were the same as the Sumerians, while others hold that they were Dravidians Some again believe that these two were identical According to this view, the Dravidians at one time inhabited the whole of India, including the Punjab, Sind and Baluchistan, and gradually migrated to Mesopotamia The fact that the Dravidian language is still spoken by the Brahui people of Baluchistan is taken to lend strength to this view. Ancient India (An Advanced History of India-Part 1) by Majumdar, Ray Chaudary and K K Dutta, p. 55

३ वैदिक संस्कृति की उत्पत्ति बाबिलोनियन संस्कृति से हुई है। मेरा यह पूर्ण विश्वास है, बाबिलोनियन भाषाओ का अच्छी तरह अध्ययन किए बिना बहुत-सी वैदिक ऋचाओ का वास्तविक अर्थ समझ में नहीं आएगा। इन्द्र की पूजा सोमपान-विधि आदि की जड़ बाबिलोनियन संस्कृति में ही है।

भारतीय संस्कृति और अहिंसा पृ० ५१, पूर्ण विवेचन पृ० १ से ५१

रूप से प्रमाणित कर ही दिया है कि किसी युग मे उत्तरी क्षेत्रो से बहुत बडी सख्या मे आर्य लोग भारतवर्ष मे आए। उन लोगो की एक व्यवस्थित सभ्यता थी। यहा के आदिवासी लोगो को उन्होंने सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक आदि सभी क्षेत्रो मे परास्त किया और उत्तर से दक्षिण तक समग्र देश मे अपनी सस्कृति का प्रभाव बढाया। यह वही सभ्यता है, जिसे लोग वैदिक सभ्यता के नाम से अभिहित करते हैं।

प्राग्-आर्य सभ्यता

इस गवेषणा के साथ अब तक यह तथ्य भी जुडा हुआ था कि आर्यों के आगमन से पूर्व इस भारतवर्ष मे कोई समुन्नत सभ्यता या सस्कृति नही थी। जैन और बौद्ध परम्पराए भी इसी सस्कृति की उत्क्रान्तिया मात्र है। इन दिनो मे जिस प्रकार इतिहास एक करवट ले रहा है, उससे यह स्पष्ट होता जा रहा है कि आर्यों के आगमन से पूर्व यहा एक समुन्नत सस्कृति और सभ्यता विद्यमान थी।[१] वह सस्कृति अहिंसा, सत्य और त्याग पर आधारित थी। यहा तक कि उस सस्कृति मे पले-पूसे लोग अपने सामाजिक, राजनैतिक व धार्मिक हितो के सरक्षण के लिए भी युद्ध करना पसन्द नही करते थे। अहिंसा उनके जीवन-व्यवहार का प्रमुख अग थी।[२]

१. "Be that as it may, there is not the least doubt that we can no longer accept the view, now generally held, that Vedic Civilization is the sole foundation of all subsequent civilizations in India That the Indus Valley Civilization described above has been a very important contributory factor to the growth and development of civilization in this country admits of no doubt"

Ancient India (An Ancient History of India Part 1) by Majumdar, Ray Chaudary and K K Dutta, p 23

२. That this ideal of Ahimsa or non-violence was the basic principle of Pre-Aryan civilization in India is known to the scholars who carefully studied the Indus Valley Civilization as revealed by the excavations of Mohen-jo-daro and Harappa There, to the great surprise of the experts, they count no weapons for the purpose of offence and defence

भौतिक विकास की दिशा मे भी वे लोग प्रगति के शिखर पर थे। उनके आवास, उनके ग्राम और उनके नगर बहुत व्यवस्थित थे और हाथी व घोडो की सवारी भी वे करते थे। उनके पास गमनागमन के यान भी थे।[1] यहा तक कि उनमे भक्ति[2] और पुनर्जन्म के विचारो का भी विकास था।

त्रिमुख मूर्ति

मोहनजोदडो और हडप्पा की खुदाई से मिलने वाले पुरातत्त्वावशेष उपरोक्त धारणाओ के आधार बनते हैं। इन अवशेषो मे एक योगासन स्थित त्रिमुख योगी की प्रतिमा विशेष उल्लेखनीय है। उस मूर्ति के सम्मुख हाथी, व्याघ्र, महिष और मृग आदि पशु स्थित[3] हैं। इस मूर्ति के विषय मे विद्वानो द्वारा नाना कल्प-

From the absence of destructive implements, the experts have come to the conclusion that the people of the Indus Valley Civilization did not interest themselves in waging wars with anybody Subtained by their high culture and civilization, they somehow carried on their affairs social, political and religious without involving themselves in any wars

The Religion of Ahimsa by Prof A Chakravarti, M A.p 17

१. The people cultivated fields of grain, raised cattle, tammed the horse, harnessed the bullock to two-wheeled carts, and taught the elephant to carry burdens

Mohen-jo-daro and the Indus Civilization (1931) Vol 1, pp. 93-5

२ Indication of the existence of the Bhakti-cult, and even of some philosophical doctrines like Matempsychosis, have also been found at Mohen-jo-daro.

Ancient India (An Ancient History of India part 1) by Majmdar, Ray Chaudary and K K Dutta p 21

३. He has a deer throne and has the elephant, the tiger, the rhinoceros, and the buffalo grouped round him

Mohon-jo-daro and the Indus Civilization (1931) Vol. 1,pp. 52-3.

नाए की गई हैं। बहुतों का कहना है यह पशुपति शिव की मूर्ति है[1]। यह भी सोचा गया है कि योगसूत्र 'अहिंसा प्रतिष्ठायां तत् सन्निधौ वैरत्यागः' के सूचक किसी पहुचे हुए योगी की मूर्ति है।[2]

शिव या शान्ति जिन ?

त्रिमुख मूर्ति के अवलोकन से अर्हत्-अतिशयो से अभिज्ञ व्यक्ति के मन मे यह कल्पना भी सहज रूप से होती है कि समवसरण स्थित चतुर्मुख तीर्थंकर का ही वह कोई शिल्प-चित्रण है। उसकी बनावट के साथ एक मुख का अदृश्य होना स्वाभाविक है। यह विशेषता तो तीर्थंकरो की स्वय सिद्ध है ही कि उनके सान्निध्य मे व्याघ्र, गज, मृग आदि नित्य-विरोधी पशु भी मैत्रीपूर्वक बैठते हैं। मृग की अवस्थिति ठीक वैसे ही है, जैसे वर्तमान युग मे शान्तिनाथ प्रभु की मूर्तियो मे हुआ करती है। मृग सोलहवें तीर्थंकर का लाछन भी है। यह कल्पना इसलिए की जा सकती है कि हडप्पा और मोहनजोदडो की खुदाइयो मे कुछ अन्य मूर्तिया तथा मुद्राए उपलब्ध हुई हैं, जिनसे जैन तीर्थंकर और जैन सस्कृति का आभास मिलता है, ऐसा विद्वानो का अभिमत है।[3]

त्रिमुख मूर्ति के विषय मे उपर्युक्त कल्पना एकाएक भले ही कुछ दूर की लगे,

१ Amomg the relics of a religious character found at Mohen-ja-daro are not only figurines of the mother goddess but also figures of a male god, who is the prototype of the historic Siva

Mohen-jo-daro and the Indus Civilization (1931) Vol 1, pp 52-3

२ This reminds us of the famous Yogadarsana aphorism which lays down that in the presence of a yogin established in ahimsa (non-violence), even the ferocious animals give up their inherent mutual animosity

Ahimsa in Indian Culture

by Dr Nathimal Tantia, M A, D Litt

३. Kamta Prasad Jain in his paper in the Voice of Ahimsa, Tirthankara Risabhadeva Special Number, vol VII No 3-4 March-Apr, 1957, pp 152-6

पर उस सम्बन्ध से शिव की कल्पना करने मे भी विद्वान् पूरा निर्वाह नही कर पा रहे हैं। उनका कहना है[1] तीन नेत्रो के स्थान पर तीन मुख हो सकते हैं और त्रिशूल के द्योतक मूर्ति मे दिखलाए गए दो सीग हो सकते हैं। सचमुच ही यह कल्पना बहुत ही लचीली और खीचातान की सी है। कुछ भी हो त्रिमुख मूर्ति से इतना तो निर्विवाद है ही कि आर्यों के आगमन से पूर्व उस प्रदेश मे ध्यान और मुनित्व का अस्तित्व वर्तमान था।

आचार्य वंश

सुप्रसिद्ध विद्वान् प्रा०ए० चक्रवर्ती का कहना है[2] "ऐसा कहा जाता है, भग-

१. On one particular seal, he seems to be represented as seated in the yoga posture, surrouned by animals He has three visible faces, and two horns on two sides of a tall head-dress . As is well known, Siva is regarded as a Mahayogin, and is styled Pasupati or the lord of beasts, his chief attributes being three eyes and the Trisula . Now the apparant yoga posture of the figure in Mohen-jo-daro justifies the epithet Mahayogin, and the figures of animals round him explain the epithet Pasupati The three faces of the figure may not be unconnected with the later conception of three eyes, and the two horns with the tall head-dress might have easily given rise to the conception of a trident (Trisula), with three prongs.
Ancient India (An Advanced History of India–Part I)
by Majumdar, Ray Chaudary and K K. Dutta p 20

२ Lord Rishabha himself is said to have been a Vidayadhara emperor in one of his previous births He is said to be of Ekshvaku clan Most of the Thirthankars were from this Ekshvaku clan Even Goutama Sakhya Muni Budha, contemporary of Mahavira, belong to this Ekshvaku clan. Rama considered to be an Avathara Purusha, also belongs to this Ekshvaku clan From these, it is clear that the Ekshvaku dynasty was occupying a place of honour in ancinent India.

वान् ऋषभ इक्ष्वाकु वंश के थे। अन्य अधिकांश तीर्थंकर भी इसी वंश के थे। भगवान् श्री महावीर के समकालीन शाक्य मुनि गौतम बुद्ध भी इसी इक्ष्वाकु वंश के थे। अवतार पुरुष माने जाने वाले राम भी इक्ष्वाकु वंश के थे। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन भारत में इक्ष्वाकु वंश का एक सम्मानित स्थान था। बहुत सम्भव है, इक्ष्वाकु लोग प्रागार्य थे, क्योंकि वैदिक संहिताओं में उन्हें उस देश के प्राचीन लोगों में से माना है। यद्यपि भगवान् ऋषभ इक्ष्वाकु वंश के थे

Probably they were also pre-Aryan because they are spoken of in the Vedic Sanhitas as a very ancient people of the land. Though Lord Rishabha belong to this Ekshvaku clan, he married a Vidyadhara princess Therefore his queen and mother of Bharata, the first emperor of the land, was from a Vidyadhara clan From this it may be inferred that the Ekshvaku dynasty and the Vidyadharas were living in the pre-Aryan period and maintained friendly relation as is evidenced by matrimonial alliance

One other pre-Aryan clan in India must be noticed here. People belonging to Hari Vamsa lived in the western-most part of the land Sri Krishna and Lord Arishta Nemi, both belong to this Hari Vamsa Rulers belonging to this clan are also famous as the defenders of non-violent faith From this cursory survey of the history of the past, it is clear this Ahimsa faith was prevalent in the land championed by the ruling families even before the advent of Aryans and probably it was the State religion in various parts of the country The pre-Aryan Vidyadharas who were responsible for the pre-Aryan civilization and culture are assumed to be the ancestors of the Dravidians If this assumption of the oriental scholars is accepted, then we have to conclude that it is Ahimsa faith or non-violent cult whch was the foundation of the ancient Dravidian culture and civilization

The Religion of Ahimsa, pp. 37-38.

तथापि एक विद्याधर राज-कन्या से भी उन्होंने विवाह किया था। इसलिए उनकी रानी और देश के प्रथम चक्रवर्ती की माता विद्याधर वंश की थी। इससे यह प्रमाणित होता है कि इक्ष्वाकु और विद्याधर प्राग-आर्यकाल में यहां रहते थे और उनमें मैत्री सम्बन्ध था, जो उक्त विवाह-प्रसंग से जाना जाता है।

"एक और प्रागार्य वंश पर भी हमें यहां ध्यान देना चाहिए। हरिवंश के लोग देश के पश्चिम भाग में रहने वाले थे। श्रीकृष्ण और भगवान् अरिष्टनेमि दोनों हरिवंश के थे। इस वंश के राजा अहिंसा धर्म के रक्षक होने के रूप में सुविख्यात हैं। इतिहास के इस सिंहावलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आर्यों के आने से पहले भी अहिंसा धर्म इस देश में व्यापक था और वह राज-परिवारों के द्वारा समादृत था। सम्भव तो यह भी है कि वह देश के बहुत सारे भागों में राजधर्म भी था। प्रागार्य विद्याधर, जो कि प्रागार्य सभ्यता और संस्कृति के मूल पुरुष थे, द्राविड लोगों के पूर्वज माने जाते हैं। यदि पुरातत्त्वान्वेषक विद्वानों की यह मान्यता स्वीकार हो जाती है तो इस निश्चय पर पहुंच ही जाते हैं कि वह अहिंसा धर्म ही है, जो प्राचीन द्राविड संस्कृति और सभ्यता का आधार था।"

डा० ए० सी० सेन, एम० ए०, एल-एल० बी०, पी-एच० डी० (हैम्बुर्ग) का भी अभिमत है[1] बुद्ध और महावीर के विचार वैदिक संस्कृति से स्वतन्त्र रूप में विकसित हुए हैं और यह बहुत सम्भव है कि इनमें से बहुत सारे विचारों का प्रारम्भ प्राचीन प्रागार्य और प्राग् वैदिक युग में हो चुका था।

नवागत संस्कृति और श्रीकृष्ण

इतिहास और अनुसन्धान के क्षेत्र में यह तो निर्विवाद है ही कि आर्य-संस्कृति लोकैषणा-प्रधान थी। आत्मा, पुनर्जन्म, मोक्ष, अहिंसा, सत्य तथा त्याग जैसी मान्यताएं उसमें नहीं थीं। विभिन्न देवों की हिंसा-प्रधान यज्ञों से उपासना करना और अपना भौतिक इष्ट मांगना, उस संस्कृति का प्रमुख स्वरूप था।[2] अहिंसा-मूलक और तप प्रधान श्रमण संस्कृति, जैसा कि बताया गया, इस ब्राह्मण संस्कृति के आगमन से पूर्व यहां वर्तमान थी। दोनों संस्कृतियों का यह मेल बहुत ही संघर्षात्मक रहा है। एक दूसरे के प्रभाव को न्यून या समाप्त कर देने के लिए नाना उपक्रम चलते रहे हैं। वासुदेव कृष्ण को यह नवागत संस्कृति मान्य नहीं थी। वासुदेव कृष्ण और आर्यों के अधिनायक इन्द्र के बीच ज्वलन्त संघर्ष रहे हैं।[3]

१. Elements of Jainism, p 2.

२. भारतीय संस्कृति और अहिंसा के आधार से

३. क. भगवान् बुद्ध पृ० २६ ख. ऋग्वेद ८-९६ १३-१५

घोर आंगिरस अर्थात् नेमिनाथ

उपनिषदो के अनुसार श्रीकृष्ण घोर आंगिरस ऋषि के अनुयायी थे। घोर आंगिरस ने वासुदेव कृष्ण को आत्म-यज्ञ की शिक्षा दी थी। उस यज्ञ की दक्षिणा तपश्चर्या, दान, ऋजुभाव, अहिंसा तथा सत्य वचन रूप थी।[1]

धर्मानन्द कोशाबी का कहना है जैन-ग्रन्थो मे अनेक स्थानो पर इस बात का उल्लेख है कि कृष्ण का गुरु (भाई) नेमिनाथ नाम का जैन तीर्थंकर था। इससे वह और घोर आंगिरस के एक ही व्यक्ति होने का सन्देह होता है।[2]

महावीर और बुद्ध की अहिंसा का मूल उद्गम

इतिहास ज्यो-ज्यो स्पष्ट होता जा रहा है, बाईसवें तीर्थंकर श्री अरिष्टनेमि प्रभु भी कुछ एक विद्वानो द्वारा ऐतिहासिक पुरुष सोचे जाने लगे हैं।[3] तेवीसवें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ प्रभु तो ऐतिहासिक पुरुषो की कोटि मे आ ही चुके हैं। अहिंसा के इतिहास मे उनके चातुर्याम[4] धर्म का अध्याय अपूर्व कोटि का माना जाता है। यह भी अब निर्विवाद-सा होता जा रहा है कि भगवान् श्री महावीर और भगवान् बुद्ध की सुविकसित अहिंसा का मूल उद्गम पार्श्व प्रभु का चातुर्याम धर्म ही है।[5] भगवान् श्री महावीर ऐतिहासिक पुरुष हैं और यह माना जाता है कि अहिंसा का सर्वांगीण विवेचन और सर्वांगीण विकास उनके युग मे हुआ है।

प्रागार्य और आर्य संस्कृति में विनिमय

ऐतिहासिक मान्यता के अनुसार वैदिक सस्कृति मे पहले पहल पुनर्जन्म, अहिंसा आदि के विचार नही थे, पर सहस्रो वर्षों के द्वन्द्व मे दोनो सस्कृतियो का एक दूसरे पर प्रभाव पडना स्वाभाविक था। सघर्ष की स्थिति मे भी दो सभ्यताए एक दूसरे से बहुत कुछ ले लेती हैं। आर्यों के इन्द्र, वरुण आदि देवो को किसी न

१ अतः यत् तपोदानमार्जवमहिंसासत्यवचनमिति ता अस्य दक्षिणा।
छान्दोग्य उपनिषद् ३ १७ ४

२ भारतीय संस्कृति और अहिंसा पृ० ५७

३. The Religion of Ahimsa, p. 14

४. सव्वातो पाणातिपातियाओ वेरमणं, एव मूस्सावायाओ वेरमण, सव्वातो आदिन्नादाणाओ वेरमणं, सव्वातो बहिद्धादाणाओ वेरमणं।
ठाणांग सूत्र ठा० ४

५. पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म पृ० २८-२९

किसी रूप मे वहा की प्राग् आर्य-सस्कृति ने माना और आत्मा, पुनर्जन्म, मोक्ष आदि अध्यात्म विचारो को आर्य-सस्कृति ने अपनाया। यही कारण हो सकता है कि ऋषभ[1], अरिष्टनेमि[2] आदि अनेक जैन तीर्थंकरो को वैदिक मन्त्रो मे भी प्रणाम किया जाना मिलता है। दोनो सस्कृतिया नाना भेदो और नाना अभेदो का सयुक्त रूप बनकर जी रही है। वैदिक-परम्परा मे उपनिषद्-सन्दोह मे आत्म-वाद और अहिंसा का पर्याप्त विकास मिलता है। वहा हिंसात्मक यज्ञ अहिंसा की राह पकड़ लेते हैं, सासारिक भोगोपभोग की कामनाए, हेय हो जाती हैं। मैत्रेयी याज्ञवल्क से पूछती है यदि यह सारी पृथ्वी धन से भर जाए तो क्या मैं उस धन से अमृत बन जाऊगी ? याज्ञवल्क कहते हैं नही, धन से अमृत प्राप्य नही है। मैत्रेयी की भावना मे अमृत ही उपादेय है, इसलिए वह कह देती है, जिससे मैं अमृत नही हो पाती, उस सबसे मुझे क्या[3] ?

विभिन्न मतो में अहिंसा का स्वरूप

भगवान् श्री महावीर अहिंसा के अप्रतिम विवेचक रहे हैं। यही कारण है, जैन धर्म अहिंसा का धर्म कहा जाता है।[4] वह युग अहिंसा की पराकाष्ठा का युग माना जाता है। भगवान् श्री महावीर की अहिंसा जितनी विस्तृत थी, उतनी गम्भीर भी थी। अब हमे यह देखना है, उस युग की अहिंसा का स्वरूप क्या था? वह निषेध-प्रधान थी या विधि-प्रधान ? उसका सम्बन्ध आत्मा के उन्नयन से था या देह-पोषण से ? उसका उद्देश्य श्रेयोऽवाप्ति था या लौकिक अभ्युदय ?

१. अहोमुचं वृषभं यज्ञियाना,
विराजंतं प्रथममध्वराणाम्।
अपा नपातमश्विना हुं वे,
धिय इन्द्रयेण इन्द्रियं दत्तमोज.॥
अथर्ववेद का० १९-४२-४

२. स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवा',
स्वस्ति न. पूषा विश्ववेदा.।
स्वस्ति न स्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमि:,
स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥
सामवेद प्रपा० ९ अ० ३

३. बृहद् आरण्यक उपनिषद् २-४-२

४. सत्य की खोज में पृ० ५७

हिंसा शब्द हननार्थक हिंसि धातु से बना है। हिंसा का अर्थ है 'असद् प्रवृत्ति या असद् प्रवृत्ति पूर्वक किसी प्राणी का प्राण-वियोजन।[1]' इसके विपरीत हिंसा न करना, किसी जीव को दुख या कष्ट न देना अहिंसा है। यह अहिंसा की व्यौत्पत्तिक व्याख्या हुई, जो कि अहिंसा के नकारात्मक रूप को अभिव्यक्त करती है। अहिंसा की विविध परिभाषाओ मे भी हमे उसका पाप-निवर्तक रूप ही मिलता है।

भगवान् श्री महावीर कहते हैं 'प्राणिमात्र के प्रति सयम अहिंसा है।'[2]

भगवान् बुद्ध कहते हैं 'जगम और स्थावर प्राणियो का प्राणघात न स्वय करे, न किसी अन्य से करवाए और न किसी करने वाले का अनुमोदन करे।[3]'

पातजल योग-दर्शन के अनुसार अहिंसा का स्वरूप है 'सब प्रकार से सब कालो मे सब प्राणियो के प्रति अनभिद्रोह।'[4]

ईश्वर गीता के अनुसार 'मन, वचन तथा कर्म से सर्वदा किसी भी प्राणी को क्लेश न पहुचाना अहिंसा है।'[5]

महाभारत के अनुसार ।ान, वाणी और कर्म से किसी की हिंसा न करना अहिंसा है।[6]

१. असत्प्रवृत्त्या प्राणव्यपरोपण हिंसा। असत्प्रवृत्तिर्वा।
श्री जैन सिद्धान्त दीपिका प्रकाश ७ सू० ४, ५

२. अहिंसा निउणा दिट्ठा सव्व भूएसु सजमो।
दस० अ० ६ गाथा ६

३. पाणे न हाने न च घातयेय, न चानुमञ्ञा हनतं परेसं।
सब्बेसु भूतेसु निधाय दण्डं, ये थावरा ये च तसन्ति लोके॥
—सुत्तनिपात, धम्मिक सुत्त

४. तत्र अहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतेषु अनभिद्रोहः।
पातजल योगसूत्र भाष्य २ ३०

५. कर्मणा मनसा वाचा, सर्वभूतेषु सर्वदा।
अक्लेशजनन प्रोक्ता, अहिंसा परमर्षिभि॥

६ कर्मणा न नर. कुर्वन् हिंसा पार्थिवसत्तम।
वाचा च मनसा चैव ततो दु खात् प्रमुच्यते॥
पूर्वं तु मनसा त्यक्त्वा त्यजेद् वाचाथ कर्मणा।
अनुशासन पर्व १७६ १

शांकर भाष्य और पातञ्जल भाष्य में अहिंसा दृष्टि

लगभग सभी परिभाषाओं का हार्द एक है और वह निकेवल निवृत्ति-प्रधान है। लोकोपकार, सेवा, दया, करुणा के रूप में अहिंसा का जो विधि-पक्ष आज के समाज-प्रधान चिन्तन में माना जाने लगा है, उसकी छाया भी उक्त परिभाषाओं में कहीं प्रतिबिम्बित नहीं होती। व्याख्या-ग्रन्थों में यत्र तत्र उन लोकोपकारक प्रवृत्तियों की भव-मुमुक्षा के विषय में अनर्हता भी स्पष्ट रूप से मिलती है। ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य में 'तत्तु समन्वयात्' (४) सूत्र की व्याख्या करते हुए 'इष्ट' और 'पूर्त' को दक्षिण मार्गगमन अर्थात् अनुपादेय कहा है।[1] वहां इष्ट[2] शब्द से आतिथ्य आदि को और 'पूर्त'[3] शब्द से वापी, कूप, तटाक, अन्नदान को अभिहित किया है। वर्तमान युग में जैसे कि कहा जाने लगा है, न मारना अहिंसा है और मरते को बचाना या उसका दुःख दूर करना दया है, यह द्वैध भी प्राचीन व्याख्याकारों की मान्यता में क्वचिद् ही रहा हो। पातंजल योगसूत्र के भाष्यकार कहते हैं—जो अहिंसक है, वही दयालु है और जो दयालु है, वही अहिंसक है। अहिंसात्मक दया का ही भगवत्-प्राप्ति रूप फल होता है।[4] सर्वभूत मित्र भी उसे कहा गया है, जो मांस नहीं खाता और किसी जीव की हिंसा व घात नहीं करता।[5] इसका तात्पर्य यह नहीं कि अहिंसा के प्राचीन विवेचनों में बचाने रूप दया का कोई उल्लेख ही नहीं है। वैसे उल्लेख भी मिलते हैं, पर बहुत कम। जैन पुराण साहित्य में कपोत को बचाने के लिए अपने शरीर का मांस देने वाले मेघरथ राजा का वर्णन आता है। अवश्य वह एक रोमांचक घटना है, पर आगमोक्त न होने के कारण वह केवल एक कहानी रह जाती है। उस कहानी के विषय में यह कह सकना भी कठिन है कि मूलतः वह किस परम्परा की है और कब रची गई है। यह कहानी शिवि राजा के उपाख्यान के रूप में महाभारत में मिलती है। बौद्ध साहित्य में भी जीमूतवाहन के नाम से कुछ प्रकारान्तर से यह कथा मिलती है। इस कथा में भी मेघरथ राजा

१. तया च याज्ञाद्यनुष्ठायिनामेव विद्यासमाधिविशेषादुत्तरेण पथागमनं केवलैरिष्टापूर्तदत्तसाधनैं धूमादि क्रमेण दक्षिणेन पथा गमनम्।

२. अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानां चानुपालनं।
आतिथ्यं वैश्वदेवं च इष्टमित्यभिधीयते॥

३. वापीकूपतडागादि देवतायतनानि च।
अन्नप्रदानमारामः पूर्तमित्यभिधीयते॥

४. पातंजल योगदर्शन भाष्य साधनपाद सूत्र ३५

५. पातंजल योगदर्शन भाष्य साधनपाद सूत्र ३५

ने बाज का वध कर कबूतर को बचाने की बात नही सोची, जबकि एक या अनेक जीवो का बध कर दूसरे जीवो को बचा लेना भी लोग अहिंसा के अन्तर्गत मानने लगे हैं।

योगदर्शन में करुणा

योगदर्शनोक्त करुणा-भावना[1] का हार्द भी समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है। तत्त्वार्थ सूत्र[2] और विशुद्धिमार्ग[3] मे भी मैत्री आदि उन्ही चार भावनाओ का उल्लेख है। योगदर्शन भाष्यकार ने दुःखी प्राणी के प्रति दुःखजिहीर्षा की भावना से परापकार-चिकीर्षा-कालुष्य-मल से चित्त का निवृत्त होना बतलाया है।[4] महर्षि पतजलि की दृष्टि मे अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश ये पाच क्लेश हैं[5], दुःखानुशयी[6] द्वेष हैं और द्वेषमूलक अभिनिवेश है, अत. यही करुणाशील की दुःख-जिहीर्षा है और यह नितान्त अहिंसात्मक है। दैहिक दुःखोपचार बहुधा रागानुशयी हो जाता है, अत वह चित्त-मलो का निवारक नही हो सकता। श्री के० सी० भट्टाचार्य कहते है करुणा का तात्पर्य है, दर्प और द्वेष से पीडित लोगो के प्रति समुद्भूत तटस्थता को दूर करना। दूसरो के दुःख को अपने दुःख के समान अनुभव करने से स्वय द्वेष या दुःख के भय से दूर हो सकता है।[7]

१. मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणं सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्त-प्रसादनम्

- योगदर्शन १।३३

२. मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थानि सत्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनेयेषु।

तत्त्वार्थ सूत्र ७।६

३. विशुद्धिमग्ग, ब्रह्म विहार निद्देस ६

४ दुःखविषयेषु दुःखितेषु रजोंऽशमात्रान्वितेषु करुणां स्वस्मिन्निव परत्र दुःख-प्रहाणाभिलाषा भावयत. पुरुषस्य परापकारचिकीर्षाकालुष्य निवर्तते चित्तस्य।

योगदर्शन भाष्य पाद १ सूत्र ३३

५ अविद्याऽस्मितारागद्वेषाऽभिनिवेशा क्लेशा।

योगदर्शन २।३

६ दुःखानुशयी द्वेष।

योगदर्शन २।८

७. Studies in Philosophy Vol 1, p 307

दुःखापनयन अर्थात् आत्मोन्नयन

दु खी के आत्मिक दु खों के निवारण मे ही अन्योन्याश्रित चार भावनाए विशुद्ध रह सकती हैं। दैहिक दु ख-मोचन मे हिंसा, राग, असंयम-पोषण आदि दोषों के कारण चारों भावनाओं की सुरक्षा सम्भावित नहीं रह जाती। आचार्य बुद्धघोष एक रोचक उदाहरण के साथ विश्लेषण करते हैं किसी स्थान पर जिसने मैत्री-भावना सिद्ध करली है, ऐसा साधक बैठा है। वहीं उसका बुरा चाहने वाला एक शत्रु, उसका हित चाहने वाला एक मित्र तथा एक तटस्थ, ये तीन व्यक्ति बैठे हैं। एक आततायी आया और बोला- चारों मे से किसी एक को मुझे अवश्य मारना है। ऐसी परिस्थिति मे वह साधक क्या सोचे ? वह तो वह सोच ही कैसे सकता है कि इन तीनों मे से किसी एक को वह ले जाए। साथ-साथ वह यह भी न सोचे कि वधक मुझे ही ले जाए, जिससे तीनों के प्राण बच जाए। ऐसा सोचने से मैत्री-विरोधी पक्षपात का आपात होता है।[1] यह बात आचार्य बुद्धघोष ने मैत्री-भावना के परीक्षण मे कही है। यदि इसे करुणा-भावना की कसौटी बनाई जाए तो भी फलितार्थ वही होगा। दु खापनयन की बात आत्मोन्नयन से ही जुडी रह सकती है। उपाध्याय श्री विनयविजयजी ने अपने भावना ग्रन्थ 'शान्तसुधारस' मे इस यथार्थता को और भी स्पष्ट कर दिया है। वे करुणा-भावना के प्रसंग में कहते हैं जो हितोपदेश का श्रवण नही करते, धर्म का स्मरण नही करते, उनके रोग कैसे दूर किए जा सकते हैं ? क्योकि रोगापनयन का तो एकमात्र मार्ग धर्म ही है।[2] हे आत्मन् ! इस भव-कान्तार मे अपार व्याधि-समूह को क्यो सहता है ? जगदुपकारक जिनेश्वर का अनुसरण कर। वे ही रोगापहारक वैद्य है।[3]

---

१. विसुद्धिमग्ग, ब्रह्म विहार निद्देस ६

२. श्रृण्वन्ति ये नैव हितोपदेशं, न धर्मलेशं मनसा स्मरन्ति।
रुजः कथङ्कारमथाऽपनेया, स्तेषामुपायस्त्वयमेक एव ॥
शान्तसुधारसभावना गीतिका १५ श्लोक ६

३. सह्यत इह किं भवकान्तारे, गदनिकुरम्बमपारम्।
अनुसरताऽऽहितजगदुपकारं, जिनपतिमगदङ्कारम् ॥
शान्तसुधारसभावना गीतिका १५ श्लोक ७

भगवान् श्री महावीर

निरामिषता और अहिंसात्मक यज्ञ

गवेषकों की दृष्टि में यह विषय अत्यन्त निर्विवाद हो गया है कि भारतीय अहिंसा-चिन्तन में जैन धर्म का अद्वितीय अनुदान रहा है। २२वें तीर्थंकर अरिष्टनेमि प्रभु विवाह-प्रसंग पर होने वाले पशु वध से अनुकम्पित होकर सदा के लिए विवाह से ही मुंह मोड़ लेते हैं।[1] २३वें तीर्थंकर पार्श्व प्रभु पंचाग्नि जैसी हिंसा-प्रधान तपस्याओं का रहस्योद्घाटन अपनी कुमारावस्था में ही कर देते हैं।[2] भगवान् श्री महावीर हिंसात्मक यज्ञों का विरोध करते हैं और अहिंसा, तप आदि रूप यज्ञों का निरूपण करते हैं।[3] भारतीय अहिंसक समाज आज उनका कृतज्ञ है, यह मानकर कि उक्त तीर्थंकरों ने निरामिषता, वैवाहिक अनारम्भता, अहिंसात्मक तप साधना और अहिंसात्मक आत्म-यज्ञ की विधि उसे सिखलाई।

अहिंसा का उग्र निरूपण और सूक्ष्म समीक्षा

भगवान् श्री महावीर अहिंसा के जितने उग्र निरूपक थे, उतने सूक्ष्म समीक्षक भी। उनकी अहिंसा के हार्द को पा लेना सहज नहीं है। एक ओर शास्त्रकार निःसंकोच भाव से कहते हैं भगवान् ने समस्त जगत् के जीवों की रक्षात्मक दया के लिए प्रवचन कहा।[4] दूसरी ओर भगवान् कहते हैं किसी राह भूले गृही को साधु मार्ग बताए तो चातुर्मासिक प्रायश्चित्त।[5] नावास्थित साधु किसी छिद्र से जल-प्रवेश

१ उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन २२

२ पार्श्वचरित्र

३. तवो जोई, जीवो जोइठाणं, जोगा सुया, सरीरं कारिसंगं।
कम्मेहा संजमजोगसन्ती, होमं हुणामि इसिण पसत्थं॥
उत्तराध्ययन सूत्र १२ ४४

४. इमं च णं सव्वजगजीवरक्खणदयट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं।
प्रश्नव्याकरण सूत्र संवरद्वार

५ जे भिक्खू अण्ण उत्थियाण वा गारत्थियाण वा नट्ठाणं मूढाणं विप्परियासियाणं मग्गं वा पवेएइ, संधिं पवेएइ, मग्गाओ वा संधिं पवेएइ, संधीओ-वा मग्गं पवेएइ, पवेयंतं वा साइज्जइ।
निशीथसूत्र उद्देशक १३ वो २८

देखकर नावास्थित अन्य जनों से कहे तो चातुर्मासिक प्रायश्चित्त।[1] अनुकम्पावश किसी त्रस प्राणी को बन्धन-मुक्त व बन्धन-युक्त करे या करने का अनुमोदन करे तो चातुर्मासिक प्रायश्चित्त।[2] नमि राजर्षि कहते हैं मैं मिथिला की ओर आंख उठाकर क्यों देखूं ? मैं तो सुख से बसता हूं, सुख से जीता हूं, मिथिला के जलने से मेरा अपना कुछ भी नहीं जल रहा है।[3] चुलनीपिता श्रावक पौषध व्रत में अपने ही सामने किसी अनार्य पुरुष के द्वारा अपने तीन पुत्रों को मारे जाते देखता है, बचाने के लिए उठता नहीं, तब तक उसका पौषध व्रत अखण्ड है। ज्यों ही वह अपनी माता को बचाने के लिए उठता है, उसके नियम, व्रत, पौषध आदि भग हो जाते हैं।[4] नन्दन मणिहारा लोक-सुख के लिए उद्यान बनाता है। मरण-

१ से भिक्खू वा (२) णावाए उत्तिंगेण उदय आसवमाणं पेहाए उवरुवरिं णावं कज्जलावेमाणं पेहाए णो पर उवसंकमित्तु एवं बया आउसंतो गाहावइ एय ते णावाए उदयं उत्तिंगेणं आसवति उवरुवरिं वा णावा कज्जलावेति एतप्पगार मण वा वाय वा णो पुरओ कट्टु विहरेज्जा अप्पुस्सुए अवहिलेसे एगंति गएण अप्पाणं विओसेज्ज समाहीए। तओ संजयामेव णावा संतारिमे उदए आहारिय रियेज्जा।

आचारांग सूत्र श्रु० २ अ० ३ उ० १

२. जे भिक्खू कोलुण पडियाए अण्णयरिय तस पाण जाय तेण पासएण वा मुंजपासएण वा कट्ठपासएण वा चम्मपासएण वा वेत्तपासएण वा रज्जुपासएण वा सुत्तपासएण वा बधइ बंधत वा साइज्जइ।
जे भिक्खू बंधेल्लय वा मुयइ मुयत वा साइज्जइ।

निशीथ सूत्र उद्देशक १२ बोल १-२

३. सुह वसामो जीवामो जेसिं मे नत्थि किंचण।
मिहिलाए डज्झमाणीए न मे डज्झइ किंचण।
चत्त पुत्त कलत्तस्स निव्वावारस्स भिक्खुणो।
पियं न विज्जइ किंचि अप्पियं पि न विज्जइ।

उत्तराध्ययन सूत्र अ० ६ गाथा १४-१५

४. तेण तुमं इदाणिं भग्ग वए, भग्ग नियमे, भग्ग पोसहोववासे विहरसि, तेण तुमं पुत्ता! एयस्स ठाणस्स आलोएहि जाव पायच्छित्त पडिवज्जाहि॥१७॥ तएण चुल्लणी पिआ समणोवासए अम्मगाए भद्दाए सत्थवाहीणिए तहत्ति एयमट्ठं विणएण पडिसुणेइ पडिसुणेइत्ता तस्स ठाणस्स आलोएइ जाव पडिवज्जइ॥ १८॥

उपासकदसाङ्ग सूत्र अ० ३

काल मे षोडश रोगो से आतंकित होता है और वहा से मरकर स्व-निर्मापित पुष्करिणी मे ही दर्दुर-योनि मे उत्पन्न होता है।[1]

दानपरक करुणा।

दान भी करुणा का एक अग है, अत उस सम्बन्ध से भी भगवान् श्री महावीर के निरूपण को आगमिक सदर्भों मे देख लेना उचित है। गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर मे भगवान् श्री महावीर कहते हैं—तथारूप पाप-कर्म का प्रत्याख्यान न करने वाले असयति, अव्रती को प्रासुक, अप्रासुक, एषणीय, अनैषणीय आहार, पानी आदि देने वाला श्रमणोपासक एकान्त पाप कर्म का उपार्जन करता है, जरा भी निर्जरा धर्म नही करता।[2] जो साधु अन्यतीर्थी व गृहस्थ को चतुर्विध आहार का दान करता है या करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।[3] इसी प्रकार जो साधु अन्यतीर्थी या गृहस्थ को वस्त्र, पात्र, कम्बल, पादप्रमार्जन का दान करता है या करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।[4]

आनन्द श्रावक ने भगवान् श्री महावीर के सम्मुख श्रावक के बारह व्रत

१ ततेण णदे तेहिं सोलसेहिं रोयायकेहिं अभिभूए समाणे णंदाए पुक्खरिणीए मुच्छित्ते ४ तिरिक्ख जोणिएहिं बद्धाण बद्धपए सिए अट्ट दुहट्ट वसट्ठे काल मासे काल किच्चा णदा पोक्खरिणीय दद्दुरीए कुच्छिंसि ददुरत्ताए उववण्णे ॥२६॥

ज्ञाताधर्मकथाङ्ग सूत्र अ० १३

२ समणोवासगस्सणं भंते ? तहारूव असजय, अविरय, अपडिहय, अपच्चक्खाय पावकम्मे फासुएण वा अफासुएण वा एसणिज्जेण वा अणेसणिज्जेण वा असण पाण जाव किं कज्जइ। गोयमा! एगत सो से पावे कम्मे कज्जइ नत्थि से काइ निज्जरा कज्जइ।

भगवती सूत्र शतक ८ उ० ६

३ जे भिक्खू अण्ण उत्थिएण वा गारत्थिएण वा असणं वा ४ देयइ देयत वा साइज्जइ ॥

निशीथ सूत्र उद्देशक १५ बो० ७८

४. जे भिक्खू अण्ण उत्थिएण वा गारत्थिएण वा वत्थ वा पडिग्गह वा कंबल वा पायपुच्छण वा देयइ देयन्तं वा साइज्जइ ॥७६॥

निशीथ सूत्र उद्देशक १५ बो० ७६

स्वीकार किए। तदनन्तर उसने अभिग्रह धारण किया, भगवन्! आज से मैं अन्य-तीर्थी, अन्यतीर्थियों के देव, अन्यतीर्थ मे गए आर्हत भिक्षुओं को आहार, पानी आदि न दूंगा, न दिलाऊंगा। इस व्रत मे मेरे छह आगार होंगे १ राजा का आदेश, २ गण का आदेश, ३ बलवान का आदेश, ४ देवता का आदेश, ५ कुल ज्येष्ठ का आदेश, ६ अटवी आदि विशेष परिस्थिति।[1]

शकडाल पुत्र भगवान् श्री महावीर का श्रावक बना। अपने चिरन्तन गुरु गोशालक के घर आने पर उसने जरा भी आवभगत नही की। गोशालक द्वारा भगवान् श्री महावीर की प्रशसा किए जाने पर उसने उसे पीठ, फलक, शय्या आदि दिए और कहा मेरे धर्माचार्य की प्रशसा की, इसलिए मैं यह सब दे रहा हू न कि धर्म और तप मान कर।[2]

जगज्जीव-रक्षा का स्वरूप

एक ओर समस्त जीवो की रक्षा के लिए प्रवचन करना और एक ओर किसी राह भूले को मार्ग न बताना, साधु स्वय और अनेको जीव डूबे जा रहे हैं, उस स्थिति मे नावा का छिद्र न बताना, अनुकम्पावश किसी प्राणी को न पाश-मुक्त करना

१ तएण से आणदे गाहावइ समणस्स भगवओ महावीरस्स अतिए पंचाणुव्वइय सत्त सिक्खावइय दुवालसविह सावगधम्म पडिवज्जइ २ त्ता समणं भगव महावीर वदति नमसति वदित्ता नमसित्ता एवं वयासी णो खलु मे भते! कप्पइ अज्जप्पभइओ अण्णउत्थिए वा अणउत्थिय देवयाणि वा अण उत्थिय परिग्गहियाणि वा अरिहन्त चेइयाति १ वंदित्तए वा नमसित्तए वा पुव्विं अणालवित्तेण आलवित्तए वा सलवित्तए वा तेसिं असण वा पाण वा खाइमं वा साइमं वा दाउ वा अणुप्पदाउ वा नन्नत्थ रायाभिओगेण, गणाभिओगेणं, बलाभिओगेणं, देवाभिओगेण, गुरुनिग्गहेण, वित्तीकतारेणं।

उपासकदसाङ्ग सूत्र अ० १

२ तएण से सद्दालपुत्ते समणोवासए गोसाल मखलिपुत्त एवं वयासी जम्हाणं देवाणुप्पिया! तुब्भे मम धम्मायरियस्स जाव महावीरस्स सन्तेहिं तच्चेहिं तहिएहिं सब्भेहिं सब्भूतेहिं भावेहिं गुणकित्तणं करेहि। तम्हाणं अह तुब्भे पडिहारिएण पीढ जाव सथारयणं उवनिमतेमि नो चेवणं धम्मोति वा तवोति वा।

उपासकदसाङ्ग सूत्र अ० ७

और न पाश-युक्त करना आदि विधान सहसा यह प्रश्न उपस्थित करते हैं, आखिर परम कारुणिक भगवान् श्री महावीर की वह जगज्जीव रक्षा है क्या ? साधारण कोटि का व्यक्ति भी उक्त परिस्थितियो मे मार्ग वताने, छिद्र वताने व जीवो को पाश-मुक्त करने के लिए प्रेरित होगा, अपना कर्तव्य समझेगा, वहा छव काया के रक्षक साधु-साध्वियो के लिए यह अकरुणापरक और असामाजिक जैसा आचार अवश्य किसी रहस्य का द्योतक है। यह हो नही सकता कि भगवान् श्री महावीर करुणासिन्धु नही थे और उन्होने जगज्जीव-रक्षा के लिए प्रवचन नही किया। और न यह भी हो सकता है कि उनके ये जगज्जीवो के प्रति औदासिन्य प्रधान निरूपण अहिसा, करुणा और अनुकम्पा से कोई परे की वात हो। इन सवका हार्द यही है कि भगवान् श्री महावीर की जगज्जीव रक्षा का स्वरूप है प्राणीमात्र को दुःख न देना, शोक उत्पन्न न करना, न रुलाना, न अश्रुपात करवाना, न उन जगज्जीवो को ताडन-तर्जन देना।[1]

सूत्रकृताग सूत्र मोक्ष-मार्ग अध्ययन मे भगवान् श्री महावीर की जगज्जीव-रक्षा का हार्द और भी स्पष्ट हो जाता है। जम्वूस्वामी के प्रश्न पर सुधर्मास्वामी भगवान् श्री महावीर द्वारा निरूपित मोक्ष-मार्ग का प्रतिपादन करते हुए कहते है पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय, ये षट्-कायिक जीव ससार मे है। इनके अतिरिक्त कोई जीवनिकाय नही है। वुद्धिमान् पुरुष इन षट्कायिक जीवो को, सवको दुःख अप्रिय है ऐसा सम्यक् प्रकार से समझ कर, सवके प्रति अहिसा करे। ऊर्ध्व, अधो और तिर्यग् दिशा मे जो भी त्रस और स्थावर प्राणी हैं, उनकी हिसा से निवृत्ति को ही निर्वाण कहा गया है।[2] इस

१. अत्थिण भते ! जीवाण सायावेयणिज्जा कम्मा कज्जति, हंता अत्थि। कहण्णं भते ! साया वेयणिज्जा कम्मा कज्जति, गोयमा ! पाणाणुकपयाए, भूयाणुकंपयाए, जीवाणुकपयाए, सत्ताणुकपयाए, वहूणं पाणाणं जाव सत्ताणं अदुक्खणयाए असोयणयाए अजूरणयाए अतिप्पणयाए अपिट्टणयाए अपरियावणयाए एवं खलु गोयमा ! जीवाण सायावेयणिज्जा कम्मा कज्जंति एव नेरइया णवि जाव वेमाणियाण।

भगवती सूत्र शतक ७ उद्देशक ६

२ पुढवी जीवा पुढो सत्ता, आउ जीवा तहागणी।
वाउ जीवा पुढो सत्ता, तणरुक्खा सवीयगा ॥७॥
अहावरा तसा पाणा, एवं छक्काय आहिया।
एतावए जीवकाय, णावरे कोइ विज्जइ ॥८॥

निरूपण से यह भली भांति स्पष्ट हो जाता है, भगवान् श्री महावीर का मोक्ष-पथ हिंसा-निवृत्तिरूप अहिंसा, दया और अनुकम्पा है। इसी अध्ययन में बताया गया है किसी ग्राम या नगर में रहते साधु को कूप-खननादि और दानशालादि करने वाला पुरुष विनयपूर्वक पूछे इनमें धर्म है या नहीं, ऐसे प्रश्न का आत्मगुप्त जितेन्द्रिय साधु कुछ भी उत्तर न दे। इस प्रकार के समारम्भ में पुण्य है या पुण्य नहीं है, ऐसा भी वह नहीं बोले। यह दोनों प्रकार की भाषा महाभय की हेतु है। दान के लिए जो त्रस और स्थावर प्राणी मारे जाते हैं, उनकी रक्षा के लिए पुण्य है, ऐसा भी वह न बोले। क्योंकि जो दान की प्रशंसा करता है, वह प्राणियों का वध चाहता है और जो दान का वर्तमान में निषेध करता है, वह अनेक जीवों की आजीविका-विच्छेद करता है। इस प्रकार जो साधु संयमस्थित रहता है, वह निर्वाण को प्राप्त होता है।[1] उक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाने के साथ कि षट्कायिक जीव ही सव्व जगज्जीव हैं और हिंसा न करना ही उनकी रक्षा रूप दया है, करुणापरक व लोकोपकारक दान के विषय में भी वस्तुस्थिति स्पष्ट हो जाती है। इन प्रसंगों को केवल यह कहकर ही नहीं टाला जा सकता कि उक्त प्रकार के विधि-विधान साधुजनों के लिए है, गृहस्थ किसी राह भूले को मार्ग बताता है, नौका में छिद्र बताता है तो वह अनवद्य करुणा है और मोक्षाभिगमन का पथ है। उक्त विधि-विधानों के पालन की अनिवार्यता भले ही साधुजनों के लिए

सव्वाहिं अणुजुत्तीहिं, मतिमं पडिलेहिया।
सव्वे अक्कंतदुक्खाय, अतो सव्वे अहिंसया ॥६॥
उड्ढं अहेयं तिरियं, जे केइ तस थावरा।
सव्वत्थ विरतिं विज्जा, संति निव्वाण माहियं ॥११॥

1. तहागिरं समारब्भ, अत्थि पुन्नं ति णो वए।
अहवा णत्थि पुन्नं ति, एवमेयं महब्भयं ॥१७॥
दाणट्ठाय जे पाणा, हम्मति तस थावरा।
तेसिं सारक्खणट्ठाए, तम्हा अत्थि त्ति णो वए ॥१८॥
जेसिं तं उवकप्पंति, अन्नपाणं तहाविहं।
तेसिं लाभंतरायंति, तम्हा णत्थित्ति णो वए ॥१९॥
जेय दानं पसंसंति, वह मिच्छति पाणिणं।
जेयणं पडिसेहंति, वित्तिच्छेयं करंति ते ॥२०॥
दुहओवि ते न भासंति, अत्थि वा नत्थि वा पुणो।
आयं रयस्स हेच्चाणं, निव्वाणं पाउणंति ते ॥२१॥

है, क्योंकि उन्होंने एकान्त अनवद्य आचरण का ही व्रत ले रखा है, परन्तु सिद्धान्त-निर्णय में उन विधि-विधानों को भुलाया नहीं जा सकता। गृहस्थ के लिए वे आचरण यदि अनवद्य अहिंसा की कोटि में आते होते तो कोई कारण नहीं रह जाता कि मुनिजनों के लिए वे वंध न होते। एक गृहस्थ किसी अन्य मार्ग-भ्रष्ट गृहस्थ को मार्ग बताकर विशुद्ध अनुकम्पा करता है और एक मुनि वही कार्य कर अपना चातुर्मासिक सयम खो देता है, किसी भी प्रकार बुद्धिगम्य होने की बात नहीं है। गृहस्थ के लिए भी उक्त प्रकार की अनुकम्पा करने के लिए कोई विधान या निरूपण करते तो अवश्य उस मन्तव्य का कोई मूल्य होता, पर जैन आगमो मे ऐसा नहीं है। इसमें जरा भी सन्देह नहीं कि भगवान् महावीर की दृष्टि में उक्त प्रकार की लौकिक क्रियाओं में शुद्ध अनुकम्पा होती तो वे उसके करने में साधु-साध्वियों के लिए चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का विधान न कर, किसी राह भूले को मार्ग न बताने में, नौकागत छिद्र न बताने में, दुःखित प्राणी को पाश-मुक्त न करने में चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का विधान करते। पर उनकी अहिंसा और उनकी अनुकम्पा या जीव-रक्षा का शुद्ध रूप नकारात्मक ही था। उनकी दृष्टि में पृथ्वी, अप्, वनस्पति से लेकर मनुष्य तक सब प्राणी समान थे। एक की हिंसा कर दूसरे की रक्षा उनकी दृष्टि में अहिंसा कैसे हो सकती थी? उनकी दृष्टि में हिंसा न करना धर्म था, पर किसी की जीवन-कामना करना धर्म हो ही ऐसी बात नहीं थी। जीवन-कामना की उपादेयता में सयम और असयम उनके मानदण्ड थे।

जीवन और मृत्यु की निरपेक्षता

सर्वसाधारण में 'जीओ और जीने दो' का वाक्य जोरों से चल पड़ा है। अहिंसा पर बोलते समय इस उक्ति को प्राथमिकता दी जाती है और कहा जाता है, भगवान् श्री महावीर का उद्घोष था 'जीओ और जीने दो।' यह यथार्थ नहीं है। न तो भगवान् श्री महावीर के सूक्तों में इस उक्ति का कहीं स्थान है और न इसका भाव भी पूर्णत उनकी प्ररूपणा के अनुकूल पड़ता है। इसमें 'जीने दो' से भी पहले 'जीओ' की बात कही है। भगवान् श्री महावीर के निरूपण में असयत जीवन-कामना के लिए कोई स्थान ही नहीं है। अध्यात्मपरायण भगवान् महावीर का तो उद्घोष इस विषय में यह रहा है "णो जीवियं णो मरणावकखी अर्थात् जीवन और मरण का आकांक्षी न हो।"[1] जीवन और मृत्यु की निरपेक्षता

१. क सूत्रकृतांगसूत्र श्रुत० १ अ० १३ गाथा २३
   ख सूत्रकृतांगसूत्र श्रुत० १ अ० १० गाथा २४
   ग सूत्रकृतांगसूत्र श्रुत० १ अ० ३ उद्देशक ४ गाथा १५

ही वास्तविक अध्यात्म है। 'जीओ और जीने दो' के उद्घोष मे उसका दर्शन नही होता।

आत्मोपचायक जीव-रक्षा

इस प्रकार भगवान् श्री महावीर की अहिंसा का वहुमुखी चिन्तन करते हुए हम सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुच जाते हैं कि उनकी जीव-रक्षा निकेवल आत्मोपचायक थी न कि देहोपचायक। प्रश्नव्याकरण सूत्र मे जहा कहा गया है समस्त जगत् के जीवो की रक्षारूप दया के लिए भगवान् श्री महावीर ने प्रवचन कहा है, उसी अनुसूत्र में कुछ ही अन्तर पर कहा जाता है भगवान् ने सव जीवो को असत्य, पिशुन, परुष, कटुक और चपल वचनो से वचाने के लिए अपना प्रवचन कहा है।[1] प्रस्तुत वाक्य-विन्यास पूर्व प्रस्तावित वाक्य-विन्यास का मानो भावार्थक अनुवाद हो गया है। सूत्रकृताग सूत्र का 'सकामकिच्च णिह आरियाण' यह आर्द्रकुमार-कथन भी वही अभिव्यक्त करता है। भगवान् अपने कर्म-क्षय के लिए तथा अन्य लोगो को तारने के लिए धर्मोपदेश करते हैं।[2] स्थविर कल्पी साधु को आत्मानुकम्पी होने के साथ-साथ परानुकम्पी[3] भी कहा गया है। मार्ग या नौका-छिद्र न वताना आदि विधानो का पालन करते हुए साधु आत्मानुकम्पी तथा परानुकम्पी इसी अपेक्षा से होता है कि वह किसी भी प्राणी का प्राण-वियोजन नही करता, न किसी प्राणी को क्लेश उत्पन्न करता है। वह केवल पापाचारी को उपदेशादि द्वारा पाप-विमुख करता है, जैसा कि केवल आत्मानुकम्पी होने के कारण जिनकल्पी साधु नही किया करता है।

निष्कर्ष यह होता है अल्प या अनल्प हिंसा की भूमिका पर अहिंसा, करुणा,

१. इमं च अलियपिसुणफरुसकडुयचवलवयणपरिरक्खणट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं।

प्रश्नव्याकरण सूत्र संवरद्वार

२. सूत्रकृतांगसूत्र श्रुत० २ अ० ६ गाथा १७

३. चत्तारि पुरिस जाया पन्नत्ता तंजहा आयाणुकम्पए नाम एगे णो परानुकम्पए।

टीका आत्मानुकम्पक. आत्महितप्रवृत्त· प्रत्येकवुद्धो जिनकल्पिको वा परानपेक्षो निर्घृण.। परानुकम्पको निष्ठितार्थतया तीर्थंकरः, आत्मानपेक्षो वा दयैकरसो मेतार्यवत्। उभयानुकम्पक· स्थविरकल्पिक। उभयानुकम्पक पापात्मा कालशौकरिकादिरिति।

ठाणांगसूत्र ठाणा ४ उद्देशक ४ सू० ३५२

दया, अनुकम्पा आदि शब्दों से अभिहित होने वाले मनोभाव अनवद्य नहीं रह सकते। हिंसा पर आधारित परोपकार, दान, करुणा, सेवा आदि हिंसा के ही विधि पक्ष हो सकते हैं, अहिंसा के नहीं।

भगवान् श्री महावीर कहते हैं हिंसादि कार्यरत हिंसक सामने हो तो साधु के लिए तीन ही मार्ग हैं वह धर्मोपदेश करे, मौन रहे या वहां से उठकर चला जाए।[1]

षष्ठगुणस्थानवर्ती और षष्ठोत्तर गुणस्थानवर्ती आत्माएं संयति हैं। पंचमगुणस्थानवर्ती संयतासंयति हैं और शेष चतुर्गुणस्थानवर्ती असंयति हैं। जहां दो ही भेद अपेक्षित हों, वहां प्राग् पंचगुणस्थानवर्ती आत्माएं असंयति की कोटि में हैं। असंयत जीवन-कामना स्वयं असंयम है और वह राग सम्भाव्य भी है, अतः यह अहिंसा का अंग नहीं है।

स्व और पर की अपेक्षा में अहिंसा का विधि पक्ष

अहिंसा का विधि पक्ष, स्व-अपेक्षा में स्वाध्याय, ध्यान, कषाय-विजिगीषा, अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य का आचरण आदि रूप सत्प्रवृत्ति है। पर-अपेक्षा में उक्त सत्प्रवृत्तियों में किसी प्राणी को प्रेरित करना तथा उपदेशादि द्वारा हृदय-परिवर्तन कर उसे हिंसादि दुराचरण से बचाना है। उक्त तथ्यों के आधार पर ही नावास्थित साधु का छिद्र न बताना, अरण्यगत को मार्ग न बताना, किसी प्राणी को अनुकम्पावश पाश-मुक्त या पाश-युक्त न करना आदि साध्वाचारशालीन रह सकते हैं। इन तथ्यों पर ही नमि राजर्षि की म्रियमाण जीवों की उपेक्षा राग-मुक्त स्थिति मानी गई है। चुलनीपिता का माता को बचाने के लिए उठना, रागात्मक दया होकर पौषध-भंग का निमित्त बना है। तथारूप असंयति, अव्रती को गृहस्थ द्वारा दिया जाने वाला दान एकान्त पाप का और संयति को दिया जाने वाला एकान्त निर्जरा का हेतु बताया गया है। इन्हीं तथ्यों पर आनन्द का अभिग्रह और शकडाल का 'न धम्मोत्ति वा, न तवोत्ति वा' का कथन संगत होता है।

आगमिक और औपनिषदिक स्वरूप

भगवान् श्री महावीर की अहिंसा के स्वरूप को यदि हम एक ही समुल्लेख में देखना चाहें तो वह प्रश्नव्याकरणसूत्र में मिलता है। वहां अहिंसा के साठ एकार्-

१ तओ आयरक्खा पन्नत्ता तंजहा धम्मियाए पडिचोयणाए भवइ, तुसिणीए वा सिया उट्ठित्ता वा आया एगंत मवक्कमेज्जा।

ठाणांगसूत्र, ठाणा ३ उद्देशक ४

र्थक नाम बतलाये गए हैं निर्वाण, निवृत्ति, समाधि, विरति, दया, विमुक्ति, शान्ति, रक्षा, यतना, अभय, अमाघात (अमरत्व) आदि।[1] यहा अधिकांश नाम निवृत्ति के सूचक हैं। इनका फलित स्वत सिद्ध है कि हिंसा-निवृत्ति अहिंसा है और दया, रक्षा आदि उसी के पर्यायवाची नाम हैं।[2] अस्तु, अहिंसा के स्वरूप पर विचार करते हुए हम इस निष्कर्ष पर सहज ही पहुंच जाते हैं कि छोटी-बडी विभिन्नताओ मे भी अहिंसा और करुणा का आगमिक और औपनिषदिक स्वरूप दैहिक और ऐहिक न होकर परम आध्यात्मिक ही था। लोकमान्य बाल गगाधर तिलक कहते हैं हिन्दुस्तान मे तात्कालिक प्रचलित धर्मों मे से जैन तथा उपनिषद् धर्म पूर्णतया निवृत्ति-प्रधान ही थे।[3] महामहोपाध्याय पण्डित गोपीनाथ कविराज लिखते है उपनिषद्कालीन प्राचीन साधना मे जीवन-मुक्ति की दशा को ही करुणा के प्रकाश का क्षेत्र स्वीकार किया गया है। ज्ञानी तथा योगी का परार्थ-सम्पादन इस महान् क्षेत्र के अन्तर्भूत है। जीवन-मुक्त ज्ञानी के जीवन का उद्देश्य भव-दुख की निवृत्ति के लिए उपाय रूप मे ज्ञान-दान करना है। करुणा के प्रकाशन की यही मुख्य प्रणाली थी। करुणा के प्रकाश करने की दूसरी प्रणालिया गौण समझी जाती थी। जीवन-मुक्त महापुरुष ही ससार-ताप से पीडित जीवो के उद्धार के लिए अधिकारी थे। वर्तमान जगत् मे करुणा के जितने ही आकार दिखाई पडते हैं, वे आवश्यक होते हुए भी मुख्य करुणा के निदर्शन नही हैं।[4]

आत्म-उन्नायकता से देहोपचायकता की ओर

आत्मोन्नायक अहिंसा मे देहोन्नायकता कब से और क्यो ?

यह हमने देखा कि प्राचीन अहिंसा-चिन्तन मे आत्मिक ऊर्ध्व सचरण की चिन्ता ही प्रमुख है। दैहिक अपेक्षाओ को वासना-परिणाम मानकर व्यक्ति को उनसे ऊपर उठ जाने के लिए प्रेरित किया गया है। भरत चक्रवर्ती द्वारा अपने अठाणवे भाइयो के राज्य छीन लिए गये। वे अठाणवे भाई असहाय और अनाथ

१. प्रश्नव्याकरणसूत्र सवरद्वार
२. एवमादीणि नियगुण निम्मियाइं पज्जवनामाणि होति अहिंसाए भगवतीए।

प्रश्नव्याकरणसूत्र १ सवरद्वार

३. गीता रहस्य पृ० ५१०
४. बौद्ध धर्म-दर्शन भूमिका पृ० १७

स्थिति को प्राप्त होकर अपने पूर्व के पिता और वर्तमान के तीर्थंकर आदिनाथ प्रभु के पास गए और अपने राज्योपभोग छीन लेने की बात कही। आदिनाथ प्रभु ने उन्हे इन्द्रिय-भोगो से पराङ्मुख करते हुए कहा सम्यग् बोध को प्राप्त करो। प्रेत्यलोक मे वह दुर्लभ है।[1] समस्त बन्धु प्रतिबुद्ध हुए और राज्य-लालसा को ठुकरा कर सयति बने। अन्ततोगत्वा दैहिक दुःख-मुक्ति की अपेक्षा आत्मिक क्लेश-मुक्ति ही यथार्थ, व्यापक और उपयोगी है। पर यहा तो यही प्रसगोपात्त है कि अहिंसा के इस आत्मोन्नयन-प्रधान स्वरूप के साथ भारतीय धर्मों मे देहोन्नयन की बात कब से प्रमुख बनी और उसके प्रेरक आधार क्या हैं?

निवर्तक और प्रवर्तक : एक सदिग्ध शब्द प्रयोग

अहिंसा की इस द्विविधता को कुछ विचारको ने निवर्तक अहिंसा और प्रवर्तक अहिंसा के शब्द-प्रयोग से अभिहित किया है।[2] इस तात्पर्य मे कि निवृत्ति-प्रधान अहिंसा निवर्तक अहिंसा और प्रवृत्ति प्रधान अहिंसा प्रवर्तक अहिंसा, कदाचित् यह शब्द-प्रयोग यथार्थ भी माना जा सके, परन्तु जब कि भगवान् श्री महावीर की अहिंसा जितनी निवृत्तिमूलक है, शुभयोग की अपेक्षा मे उतनी प्रवृत्तिमूलक भी, तब उसे निकेवल निवर्तक शब्द से अभिव्यक्त करने मे यथार्थता का अवबोध नही होता। साथ-साथ प्रवृत्तिमूलक अहिंसा का विकास कहकर निवर्तक शब्द का प्रयोग करने मे अहिंसा के असन्निवृत्तिमूलक और सत्प्रवृत्तिमूलक स्वरूप की कुत्सा भी अभिव्यक्त होती है। दैहिक दुख-निवृत्ति का स्वरूप स्वभावत ही सीमित होता है। प्रवर्तक दया कुछ ही व्यक्तियो तक पहुच सकती है। जीवन-मुक्त वीतराग की करुणा मोह-मुक्ति का बोध-दान बनकर अगणित लोगो को सुखी करती है। इसी करुणा का विस्तार प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ प्रभु से भगवान् श्री महावीर तक सभी तीर्थंकरो ने किया है और समस्त विश्व उनकी करुणा से उपकृत हुआ है। सहस्रो वर्ष पश्चात् आज भी हम उनकी बोधगगा के कृतार्थ करुणापात्र हो रहे हैं। क्या यह सोचा भी जा सकता है कि उनकी वह अहिंसा निवर्तक या निष्क्रिय थी? उक्त शब्द-विन्यास के प्रयोक्ता प्रज्ञाचक्षु प० सुखलालजी स्वय भी प्रसग-भेद से तथ्यरूप मे इस बात को स्वीकार करते हैं। धर्मानन्द कोशाम्बी की धारणाओ की समीक्षा करते हुए वे लिखते हैं भगवान् पार्श्वनाथ की अहिंसा को वे केवल निषेधात्मक और बुद्ध की

१. सबुज्झह किं न बुज्झह, सबोही खलु पेच्च दुल्लहा।
सूत्रकृतांगसूत्र श्रु १ अ० २ गाथा १

२. अहिंसा के आचार और विचार का विकास

अहिंसा को विधायक कहते हैं, जो ठीक नही लगता है। पार्श्वनाथ के चातुर्याम त्रिविध थे। उनमे जैन-परिभाषा के अनुसार समिति या सत्प्रवृत्ति का तत्त्व भी था और उनका एक विशिष्ट संघ था, ऐसा स्वयं कोशाम्बीजी भी स्वीकार करते है। यदि सारा त्यागी संघ केवल निष्क्रियरूप से बैठा रहता और कुछ भी काम नही करता तो जनता मे घर की हुई हिंसा-प्रधान यज्ञो की संस्था को किस प्रकार हटा सकता या उसे निर्बल कर सकता। भगवान् महावीर से पहले जैन-परम्परा मे पूर्व श्रुत के अस्तित्व के और कर्म-तत्त्व विषयक कुछ और विशिष्ट साहित्य होने के प्रमाण भी मिलते हैं, जो कि पार्श्वनाथ के संघ की निष्क्रियता के विरुद्ध सबल प्रमाण हैं।[1]

प्रवर्तक और निवर्तक यह शब्द युग्म तो तभी यथार्थ प्रयुक्त हो सकता है जब एक पक्ष प्रवृत्तिमात्र का निषेध करता हो और दूसरा पक्ष निवृत्तिमात्र का। वस्तुस्थिति यह है कि किसी एक का भी दूसरे मे पूर्ण निषेध नही है। निवृत्ति की विशुद्धता मे किसी को आपत्ति नहीं है। उस निवृत्ति के साथ प्रवृत्ति को योजित करने का ही केवल वाछित अभिप्राय है। निवृत्ति-प्रधान माने जाने वाला पक्ष भी केवल असद्प्रवृत्ति का निषेध करता है। सत्प्रवृत्ति के लिए वहा भी मुक्त संचार है। प्रवृत्ति-मात्र को प्रवृत्तिप्रधान पक्ष भी उपादेय कोटि मे नही मानता। वहा भी सत्-असत् का विवेक तो अपेक्षित है ही। अधिक-से-अधिक प्रवर्तक पक्ष गीता का कर्म-योग है। वहा भी फलाशा-रहित और करणीय[2] प्रवृत्ति का ही आचार-कोटि से माना है। यथार्थ भेद प्रवृत्ति और निवृत्ति का नही ठहरता। वह ठहरता है, सत्प्रवृत्ति की व्याख्या का। एक पक्ष की व्याख्या मे कुछ एक प्रवृत्तिया सत् हैं तो दूसरे पक्ष की व्याख्या मे वे असत्। इस साधारण भेद को व्यक्त करने के लिए प्रवर्तक धर्म और प्रवर्तक अहिंसा, निवर्तक धर्म और निवर्तक अहिंसा आदि प्रयोग सदिग्ध शब्द-विन्यास है। भूखे को भोजन देना, प्यासे को पानी पिलाना, रोगी का औषधोपचार करना प्रवर्तक कही जाने वाली अहिंसा का मुख्य रूप है। व्यसनी को व्यसन-मुक्त करना या भूख-प्यास, रोगादि से व्याकुल को उन देहार्तियो का सामना करने के लिए प्रखर आत्म-बल देना आदि निवर्तक कही जाने वाली अहिंसा (दया) है। दया के दोनो रूपो मे व्यक्ति और समाज के

१. भारतीय संस्कृति और अहिंसा, अवलोकन पृ० २१
२. अनाश्रित कर्मफलं कार्यं कर्म करोति य ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रिय.॥
गीता अ० ६ श्लोक १

लिए कौन-सा रूप अधिक उपयोगी व अध्यात्म-सम्मत है, इसकी चर्चा यहा नही करेंगे। शब्द-प्रयोग की दृष्टि से उक्त दोनो स्वरूपो मे एक दैहिक, दूसरा आत्मिक प्रत्यक्ष है। अत अहिंसा (दया) के इस एक स्वरूप को देहोपचायक तथा दूसरे स्वरूप को आत्मोपचायक अथवा तत्सम अन्य शब्दो मे कहा जाए तो अधिक यथार्थ लगता है।

भगवान् बुद्ध और महायान सम्प्रदाय की करुणा

गौतम बुद्ध के विधायक उपदेश

उपनिषदो व भगवान् श्री महावीर की आत्मोपचायक अहिंसा मे देहोपचायकता का आरम्भ भगवान् बुद्ध की अहिंसा से माना जा सकता है। बौद्ध धर्म उत्कट देह-दमन और उत्कट भोगवाद के बीच का मध्यम मार्ग था। अत उसमे विधायक उपदेशो का प्रादुर्भाव होना स्वाभाविक था। महामगलसुत्त मे भगवान् बुद्ध कहते हैं माता-पिता की सेवा, पुत्र-दार का सग्रह, दान, धर्म-चर्या, अनवद्य कर्म ये उत्तम मगल हैं। यह विधायकता बुद्ध के मूलभूत उपदेशो मे नाममात्र से ही रही है, पर आगे चलकर हीनयान और महायान के निर्वाण विषयक सैद्धान्तिक मतभेदो के आधार पर परम्परा विशेष मे वृद्धिगत हुई है। वह वृद्धि भी आचार सम्बन्धी नियमो मे शिथिलता चाहने वाली परम्परा मे ही हुई है। इतिहास बताता है राजगृह मे बौद्ध सघ की जो प्रथम महासभा हुई थी, उसी मे नियमो का बन्धन कुछ ढीला करने का प्रयत्न किया गया था, किन्तु उस प्रयत्न मे सफलता न मिली। वैशाली की सभा मे फिर प्रयत्न किया गया। उस सभा मे स्थविरो ने उस प्रयत्न को दूषित ठहराया। उससे असन्तुष्ट होकर सुविधा के इच्छुको ने महासगीति नाम से एक पृथक् सभा की। इसके प्रवर्तक महासघिक नाम से प्रख्यात हुए, क्योकि उस सभा मे ऐसे ही भिक्षुओ की सख्या अधिक थी। महासघिक लोगो का सम्प्रदाय महायान नाम से पुकारा जाने लगा। इसी प्रकार स्थविरवादियो का जो सगठन हुआ, वह हीनयान सम्प्रदाय कहलाया।[1]

हीनयान और महायान के मोक्ष सम्बन्धी विचार

हीनयान की मान्यता के अनुसार निर्वाण वैयक्तिक है, इसलिए दु ख-क्षय का साधनरूप धर्म और उसके भेद विशेष, वैयक्तिक हैं। महायान के अनुसार निर्वाण

१ बौद्ध-धर्म पृ० ६१, विशेष विवरण के लिए बौद्ध धर्म-दर्शन खण्ड १, अ० ४ से १० तक, बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन पृ० ५४७ से ६३८

सामाजिक है। उसके कथनानुसार बुद्ध ने अपने दुःख-क्षय के लिए कुछ भी नहीं किया। व्यक्तिगत मोक्ष को उन्होंने रस-विहीन माना।[1] जब तक एक भी प्राणी दुःख-युक्त है, तब तक मोक्ष काम्य नहीं है। भगवान् बुद्ध ने निर्वाण प्राप्त नहीं किया, अपितु अब भी वे योन्यन्तर में सभी जीवों को मोक्ष प्राप्त कराने में संलग्न हैं।

महायान सम्प्रदाय का करुणा व लोकोपकार सम्बन्धी अभिमत

मोक्षवाद की इस सामुदायिक धारणा पर परानुग्रह-वृत्ति का विकास हुआ। महायान बौद्ध-परम्परा का एक प्रभावशाली और समर्थ सम्प्रदाय था। प्रारम्भ में भी वैशाली की संगीति में केवल सात सौ साधु एकत्रित थे और महासंघिकों की कोशाम्बी में होने वाली परिषद् में दस सहस्र बौद्ध भिक्षुओं की उपस्थिति थी।[2] आगे चलकर यह मत और भी व्यापक व प्रभावशाली बना तथा करुणा व लोकोपकार के अपने अभिमत स्वरूप को जन-जन तक पहुंचाने में सफल हुआ। डा० हरदयाल का कथन है महायान के उद्गम में अनेकों देश-काल-जन्य प्रभावों के साथ गीता और ईसाई धर्म का बढ़ता हुआ प्रभाव भी हेतुभूत था।[3] यह कथन स्वाभाविक भी लगता है, क्योंकि गीता कर्म-योग के नाम से और ईसाई सेवा के नाम से लोक-संग्राहक प्रवृत्तियों पर बल देते ही हैं। आश्चर्य केवल यही रह जाता है, महायान के आधारभूत ग्रन्थों में दुःख-निवारण की चर्चाएं मिलती हैं, पर उनसे ऐसा नहीं लगता, वे अनाध्यात्मिक हैं। यहां अधिकांश चर्चा बन्धन-रूप आन्तरिक क्लेशों के निवारण की ही उपलब्ध होती हैं। महायान अभिधर्म संगीति-शास्त्र में महायान की सात विशेषताओं का उल्लेख किया है। उसमें बताया गया है

१ क एवं सर्वमिदं कृत्वा यन्मया सादितं शुभम्।
तेन स्यां सर्वसत्त्वानां सर्वदुःखप्रशान्तकृत् ॥३.६॥
मुच्यमानेषु सर्वेषु ये ते प्रामोद्यसागराः।
तैरेव ननु पर्याप्तं मोक्षेणारसिकेन किम् ? ८.१०८॥

बोधिचर्यावतार

ख न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नपुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम् ॥

२. बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन पृ० ५४६

३. The Bodhisatva Doctrine in Buddhist Sanskrit Literature, pp 39-40.

१. महायान वस्तुत महान् और विशाल है, क्योकि उसमे जीव-मात्र की मुक्ति का सन्देश है।

२ महायान मे प्राणीमात्र के लिए त्राण का विधान है।

३ महायान का लक्ष्य वोधि-प्राप्ति है।

४ महायान का आदर्श वोधि-सत्त्व है, जो समस्त प्राणियो के उद्धारार्थ सतत उद्योगशील रहता है।

५ महायान की मान्यता है कि भगवान् वुद्ध ने उपाय-कौशल से नाना प्रकार के प्राणियो को नाना प्रकार से उपदेश दिया है, जो पारमार्थिक रूप से एक है।

६ वोधि-सत्त्व की दस भूमियो का महायान मे विधान है।

७ महायान के अनुसार वुद्ध सव मनुष्यो की आध्यात्मिक आवश्यकताओ को पूर्ण करने मे समर्थ हैं।

इन सातो विशेपताओ मे व्यवहारिक जीवन के लोकोपकारक कार्यो का कोई स्पष्ट उल्लेख नही है।

भगवान् बुद्ध और क्षुधार्त्त व्यक्ति

एक वार भगवान् वुद्ध के पास एक क्षुधार्त्त व्यक्ति आया। भिक्षु उसे धर्मोपदेश देने लगे। वह उपदेश-श्रवण मे अन्यमनस्क था। भगवान् वुद्ध ने कहा पहले इसे रोटी खिलाओ, फिर धर्मोपदेश करो। वैसा ही किया गया। इस उल्लेख से यह स्पष्ट होता है, क्षुधा, तृषा आदि से जो मानसिक क्लेश उत्पन्न होता है, उसका निवारण किए विना धर्म-वोध अकुरित नही होता। भोजन, पानी उस बोध को अकुरित करने मे हेतुभूत हो जाते हैं। धर्म और धर्म के अवान्तर हेतु ये सर्वथा दो वातें हैं। शुभ अनुष्ठान के भी अवान्तर हेतु शुभ और अशुभ दोनो ही प्रकार के हो सकते हैं। वहुत सम्भव है, भगवान् वुद्ध की इस हेतुरूप अपेक्षा को सामान्य जीवन व्यवहार मे वास्तविक अध्यात्म का स्थान मिल गया हो।

सम्राट् अशोक के शिलालेखो में

सम्राट् अशोक के शिलालेखो से भी इस सम्भावना की पुष्टि होती है। एक ओर उनमे मिलता है

१ माता-पिता की सेवा करनी चाहिए। विद्यार्थी को आचार्य की सेवा करनी चाहिए। यही प्राचीन रीति है।[1]

२ देवताओ के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने दो प्रकार की चिकित्सा, एक मनुष्यो

१. अशोक के धर्म लेख, ब्रह्मगिरी, द्वितीय शिलालेख पृ० ६६

की चिकित्सा और दूसरी पशुओं की चिकित्सा का प्रबन्ध किया है। ओषधियां भी मनुष्यों और पशुओं के लिए जहां-जहां नहीं थीं, तहां-तहां लाई और रोपी गई हैं। इसी तरह से मूल और फल भी जहां-तहां नहीं थे, सब जगह लाए और रोपे गए हैं। मार्गों में पशुओं और मनुष्यों के आराम के लिए वृक्ष लगाए और कुए खुदवाए गए हैं।[1]

३ प्रियदर्शी राजा के धर्मानुशासन से बन्धुओं का आदर, ब्राह्मण और श्रमणों का आदर, माता-पिता की सेवा तथा बूढ़ों की सेवा बढ़ गई है।[2]

४ वृद्धों के दर्शन करना और उन्हें स्वर्ण-दान देना चाहिए।[3]

इन समस्त उल्लेखों का हार्द एक दूसरे सम्मुलेख से भली-भांति पकड़ा जा सकता है, जिसमें सम्राट् अशोक कहते हैं सड़कों पर भी मैंने मनुष्यों और पशुओं को छाया देने के लिए बरगद के पेड़ लगवाए, आम्र वृक्ष की वाटिकाएं लगवाईं, आध-आध कोस पर कुए खुदवाए, सराए बनवाईं और जहां-तहां पशुओं तथा मनुष्यों के उपकार के लिए अनेक पौंसले (आपान) बैठाए। किन्तु यह उपकार कुछ भी नहीं है। पहले के राजाओं ने और मैंने भी विविध प्रकार के सुखों से लोगों को सुखी किया है। किन्तु मैंने यह (सुख की व्यवस्था) इसलिए की है कि लोग धर्म के अनुसार आचरण करें।[4]

इस उल्लेख से यह धारणा और भी स्पष्ट हो जाती है कि सम्राट् अशोक ने विशेषतः धर्माचरण को हेतु मानकर यह सब व्यवस्था की है। तत्त्व-स्थिति में और व्यवहार में बहुत बार इस प्रकार के मौलिक भेद पड़ जाते हैं। सर्वसाधारण मूलग्राही न होकर स्थूलग्राही होते हैं। दान के चित्त, वित्त और पात्र[5] तथा देश काल[6] सम्बद्ध तात्त्विक स्वरूप शास्त्रों में रह गए हैं और सर्वसाधारण ने दानमात्र को ही मोक्षप्रद मानकर अपना लिया है। भगवान् बुद्ध और महायानी करुणा-निरूपण के साथ भी यही घटित हुआ हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

१ अशोक के धर्म-लेख, द्वितीय शिलालेख पृ० १२१

२. अशोक के धर्म-लेख, चतुर्थ शिलालेख पृ० १४८

३. अशोक के धर्म-लेख, अष्टम शिलालेख पृ० १६७

४. अशोक के धर्म-लेख, सप्तम स्तम्भलेख (दिल्ली-टोपरा) पृ० ३७४-७६

५. दुलहाओ मुहादायी, मुहाजीवी वि दुल्लहा।

दसवैकालिकसूत्र अ० ५ गा० १००

६. देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्।

गीता अ० १७ श्लोक २०

महायान और लोक-संग्राहकता पर लोकमान्य तिलक

लोकमान्य बालगंगाधर तिलक तो निवृत्ति-प्रधान बौद्ध धर्म से महायान जैसा प्रवृत्ति लक्षण सिद्धान्त आविर्भूत हो सकता है, यह मानने को भी प्रस्तुत नहीं हैं। उनका कहना है इस तत्त्व का विस्तृत प्रतिपादन गीता के अतिरिक्त कहीं भी नहीं किया गया है कि ब्रह्मनिष्ठ पुरुष लोक-संग्रह के लिए प्रवृत्ति-धर्म ही को स्वीकार करे। अतएव यह अनुमान करना पड़ता है कि जिस प्रकार मूल बौद्ध धर्म में वासना को क्षय करने का निरा निवृत्ति-प्रधान मार्ग उपनिषदों से लिया गया है, उसी प्रकार जब महायान पथ निकला, तब उसमें प्रवृत्ति-प्रधान भक्ति-तत्त्व भी भगवद्गीता से ही ले लिया गया होगा।[1]

अगले संदर्भ में वे लिखते हैं—नीचे लिखी हुई चार बातों से इतना तो निःसन्देह सिद्ध हो जाता है कि बौद्धधर्म में महायान पथ का प्रादुर्भाव होने से पहले केवल भागवत धर्म ही प्रचलित न था, बल्कि उस समय भगवद्गीता भी सर्वमान्य हो चुकी थी और इसी गीता के आधार पर महायान पथ निकला है। वे चार बातें इस प्रकार हैं

१ केवल अनात्मवादी तथा सन्यास-प्रधान मूल बौद्धधर्म ही से आगे चलकर क्रमशः स्वाभाविक रीति पर भक्ति-प्रधान तथा प्रवृत्ति-प्रधान तत्त्वों का निकलना सम्भव नहीं है।

२ महायान पथ की उत्पत्ति के विषय में स्वयं बौद्ध ग्रन्थकारों ने श्रीकृष्ण के नाम का स्पष्टतया निर्देश किया है।

३ गीता के भक्ति-प्रधान तथा प्रवृत्ति-प्रधान तत्त्वों की महायान पथों के मतों से अर्थतः तथा शब्दशः समानता है।

४ बौद्ध धर्म के साथ तात्कालीन प्रचलित अन्यान्य जैन तथा वैदिक पथों में प्रवृत्ति-प्रधान भक्ति-मार्ग का प्रचार न था।[2]

अन्यान्य इतिहासकारों का भी अभिमत है कि भगवान् बुद्ध के मूल सिद्धान्तों का अनुगमन करने वाला तो हीनयान सम्प्रदाय ही है। महायान तो बौद्ध धर्म में अविद्यमान तथा बीजरूप से विद्यमान लोक-संग्राहक धारणा को संगृहीत या विस्तृत करने वाला सम्प्रदाय है। कुछ भी हो भारतवर्ष में वह लोकैषणा पूरक अहिंसा (करुणा) को अग्रसर करने में बहुत सफल रहा है, यह तो निर्विवाद है ही।

१ गीता रहस्य पृ० ६११
२. गीता रहस्य पृ० ६१३

गीता की लोक-संग्राहक दृष्टि

भक्तिवाद की भूमिका मे मौलिक अन्तर

गीता प्राय समस्त वैदिक परम्पराओ का एक मान्य ग्रन्थ है। इसमे ज्ञान, भक्ति, कर्म आदि अनेको साधना-भेदो को मान्यता दी गई है। वैसे वे भेद-प्रभेद किंचित् स्वरूपान्तर से सभी भारतीय धर्मों मे विद्यमान हैं। ज्ञान, निवृत्ति, सन्यास, जैनो और बौद्धो मे उत्कृष्ट स्थिति से विकसित हुए हैं, यह सर्व विदित है। भक्ति-मार्ग का विकास ईश्वर कर्तृत्ववादी सम्प्रदायो मे विशेष रूप से हुआ है। यह स्वाभाविक भी था। सर्वार्पण और सर्वोत्सर्जन किसी दूसरे के प्रति तभी पूर्णता प्राप्त कर सकते है, जबकि किसी सत्ता विशेष के प्रति कर्ता-धर्ता होने की निष्ठा रोम-रोम मे धस गई हो। वही सब कुछ मेरा करेगा, यह विश्वास अटल हो गया हो। जैनो और बौद्धो मे कर्तृत्ववाद नही है, फिर भी भक्तिवाद के लिए समुचित स्थान है। वहा साधक प्रतिदिन कहता है—"अरिहन्ते सरण पवज्जामि, सिद्धे सरण पवज्जामि, साहू शरण पवज्जामि, केवली पन्नत्त धम्म सरण पवज्जामि[1] अर्थात् मैं अरिहन्त, सिद्ध, साधु व केवली-प्ररूपित धर्म की शरण ग्रहण करता हू।" "बुद्ध शरण गच्छामि, धम्म शरण गच्छामि, सघ शरण गच्छामि[2] मैं बुद्ध की शरण जाता हूं, धर्म की शरण जाता हू, सघ की शरण जाता हू।" यह जैनो और बौद्धो की भक्ति का निदर्शन है। यहा साधक यह मानकर चलता है कि भगवान को मैं अपनी आत्म-परिणति से अपने लिए प्रेरक बना रहा हूं, पर मेरी इस भक्ति से तुष्ट होकर भगवान् मेरे लिए कुछ भी करने नही आएगे। भक्ति की भूमिका का यह श्रमण और वैदिक धाराओ मे मौलिक अन्तर है। वैदिक परम्पराओ मे अनेको भक्तो के भगवत्-साक्षात्कार होने की चर्चाए हैं, पर जैन व बौद्ध परम्पराओ मे ऐसी सम्भावनाओ के लिए कोई स्थान नही है।

अनासक्ति के नाम पर भोगवाद का आलम्बन

कर्मयोग की देन गीता की अपनी निराली है। गीता के कर्मयोग का व्यापक होना इसलिए भी सहज था कि वह लोक-रुचि के अनुकूल पडता है। मोक्षार्थी मनुष्य यह क्यो नही चाहेगा कि उसे मोक्ष-प्राप्ति के लिए गृह-त्याग न करना पडे और केवल अनासक्ति की शर्त पर ही उसे वह मिल जाए। अनासक्ति की शर्त भी सीधी बात तो नही है और समस्त दैहिक कर्म करते हुए व्यक्ति सर्वथा

१ आवश्यक सूत्र, मगल पाठ

२ भगवान् बुद्ध पृ० १७७

अनासक्त रह सके, यह बुद्धिगम्य भी कहा तक है, यह एक विचारणीय विषय है। राजर्षि जनक का नाम लेकर आज लोक-प्रवाह कर्मयोग की दिशा मे चल पड़ा है, पर उस प्रवाह मे कितने लोग होंगे जो दाए हाथ पर चन्दन और बाए हाथ पर अग्नि का स्पर्श होने पर भी दोनो की समानानुभूति करते हो, जैसा कि जनक ने अपने विषय मे कहा था। भले ही कुछ लोग अपने जीवन-व्यवहार मे अनासक्ति का विशिष्ट परिचय दे रहे हो, सामान्यत तो यह अनासक्तिवाद अधिक लोगो के लिए भोगवाद पर चलते रहने का एक आलम्बन बन गया है। जनतन्त्र के युग मे एक पद पर दसो लोग भूखे भेड़िये की तरह झपटते हैं, यह है आज का निष्काम कर्मयोग। व्याख्याए कितनी ही सुन्दर हो, सिद्धान्त की कसौटी तो उसका व्यवहार है।

गीता प्रवृत्तिमार्गी ग्रन्थ या निवृत्तिमार्गी ?

गीता निवृत्ति की अपेक्षा प्रवृत्ति को प्रधानता देने वाला ग्रन्थ है, यह भी निर्विवाद विषय नही है। वेदान्त के अनेकानेक आचार्यों ने इस पर निवृत्ति-प्रधान भाष्य लिखे हैं। शकराचार्य ने भी गीता-दर्शन को इसी दृष्टि से देखा है। उनका कहना है इस गीता-शास्त्र का प्रयोजन सक्षेपत परम नि श्रेयस् की प्राप्ति ही है। परम नि श्रेयस् का तात्पर्य उनके शब्दो मे सहेतुक ससार की आत्यन्तिक शान्ति ही है।[1] परम नि श्रेयस् की प्राप्ति का उपाय बतलाते हुए उन्होने कहा है कि वह सर्वकर्म-सन्यास-पूर्वक आत्म-ज्ञान-निष्ठारूप धर्म से ही सम्भव है।[2]

साराश यह है, आचार्य शकर के मतानुसार गीता ज्ञान-मार्ग का ग्रन्थ है। वर्तमानयुग मे श्री लोकमान्य तिलक और महात्मा गाधी प्रभृति आधुनिक विचारको ने गीता को कर्मयोग-प्रधान ग्रन्थ माना है और इसीका व्यापक विवेचन उन्होने अपने साहित्य मे किया है। वस्तुस्थिति यह है, गीता ने कर्म और ज्ञान इन दोनो ही विषयो पर अधिक बल दिया है। कर्म-प्रेरणा के प्रसग मे अर्जुन से श्रीकृष्ण कहते हैं कर्म मे ही तेरा अधिकार है,[3] इसलिए योगस्थ होकर तू कर्म कर।[4] कर्मों के अनारम्भ से ही मनुष्य नैष्कर्म्य का अनुभव नही कर सकता और न केवल

१ अस्य गीताशास्त्रस्य सक्षेपत प्रयोजन परम नि श्रेयस् सहेतुकस्य संसारस्य अत्यन्तोपरमलक्षणम्। गीता भाष्य का उपोद्घात

२ तच्च सर्वकर्मसन्यासपूर्वकात् आत्मज्ञाननिष्ठारूपाद् धर्माद् भवति। गीता भाष्य का उपोद्घात

३. कर्मण्येवाधिकारस्ते गीता-२. ४७

४. योगस्थ कुरु कर्माणि गीता-२. ४८

संन्यास से ही सिद्धि प्राप्त करता है। इसलिए तू निश्चय ही कर्म कर।[1] बिना कर्म किए कोई क्षण-भर भी नहीं रह सकता।[2] इसलिए तू निश्चय ही कर्म कर।[3] बिना कर्म किए तो तेरी शरीर-यात्रा भी नहीं चलेगी।[4] इसलिए तू राग-रहित होकर यज्ञार्थ कर्म कर, क्योंकि यज्ञार्थ कर्म से व्यतिरिक्त कर्म इस लोक में बन्धन का कारण है[5]। अतः अनासक्त होकर तू सतत करणीय कर्म को कर।[6] देव, जनकादि ऋषियों ने भी तो कर्म के द्वारा ही सिद्धि प्राप्त की, अतः लोक-संग्रह की दृष्टि से भी तुझे कर्म करना चाहिए।[7] लोक-संग्रह की दृष्टि से विद्वान् पुरुष को सदा असक्त होकर कर्म करना चाहिए।[8] ज्ञान पूर्वक पूर्व काल में मुमुक्षुओं ने भी कर्म किया है, इसलिए पूर्वजों का अनुसरण करता हुआ तू कर्म कर।[9] करणीय कर्म

१. न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥

गीता-३.४

२. न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।

गीता-३ ५

३. नियतं कुरु कर्म त्वं।

गीता-३ ८

४. शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः।

गीता-३.७

५. यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥

गीता-३ ९

६. तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।

गीता-३.१९

७. कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि॥

गीता-३.२०

८ कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्।

गीता-३.२५

९ एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्॥

गीता-४.१५

को जो आसक्ति छोडकर करता है, वही सन्यासी है, वही योगी है, न कि अग्नि और क्रिया को छोडने वाला।[1] इसलिए जिसे सन्यास कहा गया है, उसे तू योग समझ।[2] यज्ञ, दान, तप आदि कर्म छोडने योग्य नही है।[3] इन्हे तू आसक्ति और फल की कामना छोडकर कर, यह मेरा निश्चित मत है।[4] कर्म-फल का त्यागी ही वास्तव मे त्यागी है[5], और काम्य कर्मो का त्याग ही सन्यास कहा जाता है।[6] इसलिए तू कर्म कर।

कर्म पर इतनी पुनरुक्तियो के साथ मुहुर्मुहु बल देने से ऐसा लगना बहुत सहज है कि गीता प्रवृत्ति-लक्षण धर्म का ही ग्रन्थ है, ज्ञान-परायण निवृत्ति मार्ग का नही। किन्तु ज्यो ही हम उसकी निवृत्ति-परायण ज्ञान-मीमासा की ओर दृष्टि-पात करेगे तो दोनो पलडे सम होते लगेगे। वहा ज्ञान मे सम्पूर्ण कर्म की परिसमाप्ति हो जाती है।[7] ज्ञानाग्नि से सब कर्म भस्मीभूत होते हैं।[8] वहा ज्ञान के सदृश पवित्र

१. अनाश्रित कर्मफल कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रिय.॥

गीता-६.१

२. य सन्यासमिति प्राहुर्योगं त विद्धि पाण्डव।

गीता-६.२

३. यज्ञदानतप.कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।

गीता-१८ ५

४. एतान्यपि तु कर्माणि सङ्ग त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥

गीता-१८.६

५. यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते।

गीता-१८.११

६. काम्यानां कर्मणां न्यास सन्यास कवयो विदु।

गीता-१८.२

७ सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।

गीता-४.३३

८. क ज्ञानाग्नि. सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।

गीता-४.३७

ख—ज्ञानाग्निदग्धकर्माणि तमाहु पण्डित बुधा.।

गीता-४.१९

कुछ नहीं है।[1] ज्ञानी स्वयं भगवान् हो जाता है।[2] ज्ञानरूपी नाव के द्वारा व्यक्ति सम्पूर्ण पापों से पार होता है।[3] ज्ञान के द्वारा ही परम शान्ति उपलब्ध होती है।[4] इत्यादि अनेकानेक कथनों मे गीतोक्त ज्ञान-मार्ग भी कर्म-मार्ग से हल्का नहीं रह जाता। कर्म और सन्यास मे कर्मयोग ही विशेष है,[5] यह एक उक्ति कर्मयोग के पलड़े को अवश्य थोड़ा भारी कर देती है। शंकराचार्य का अभिमत है कर्मयोग के पक्ष मे गीता का यह तो केवल श्लाघा वचन ही है अर्थात् वह केवल अर्थवादात्मक है। वास्तव मे तो सन्यास-मार्ग ही श्रेष्ठ है।[6] रामानुज भाष्य मे भी इस कथन को केवल अर्थवादात्मक माना है।[7] कुछ एक तटस्थ विद्वानो का भी अभिमत है कि गीता का चरम लक्ष्य ज्ञान प्राप्ति ही है और कर्म पर उसका आग्रह उसकी इस चिन्ता को अभिव्यक्त करता है कि कहीं ज्ञान अक्रियावादी न हो जाए। इस प्रकार गीता का साध्य तो परम निःश्रेयसरूप ज्ञान ही मानना पड़ेगा और उसका साधन कर्म, तभी गीता को उपनिषदों का सार[8] कहा जा सकता है।

ज्ञान और कर्म की इस प्राचीन चर्चा को विस्तृत करना यहा आवश्यक नहीं है। गीता ज्ञान-मार्ग का ग्रन्थ है या कर्मयोग का, यह विषय भी विवादास्पद है, पर इतना तो निर्विवाद है ही कि गीता ने लोक-सग्राहक प्रवृत्ति पर अधिक-से-अधिक बल दिया है और भारतीय अध्यात्म के क्षेत्र को प्रभावित किया है। सक्षेप मे कहा जा सकता है, महायान धर्म की अपेक्षा भी धर्म के क्षेत्र मे लौकिक प्रवृत्तियो को स्थान देने मे गीता का स्थान उससे भी अधिक रहा है।

१ नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
गीता-४.३८

२ ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
गीता-७ १८

३ सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि।
गीता-४ ३६

४. ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।
गीता-४ ३९

५ तयोस्तु कर्मसन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते।
गीता-५ २

६ गीता, शांकर भाष्य ५ २

७. गीता, रामानुज भाष्य ५ १

८ सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

ईसाई धर्म का प्रभाव

विगत दो सहस्राब्दियो मे ईसाई धर्म भी वर्तमान विश्व के कोने-कोने तक फैला है। बाइबिल मे भी शरीर-सेवा अर्थात् देह-दया पर अधिक-से-अधिक बल दिया गया है। कुछ एक पाश्चात्य विद्वानो का यह भी अभिमत रहा है कि लोक-सेवा का सिद्धान्त बाइबिल से गीता मे आया है।[1] यह यथार्थ न भी हो तो भी देह-दया और शरीर-सेवा के विचारो का प्रभाव भारतीय जन-मानस पर तो अवश्य किसी-न-किसी रूप मे पडा ही है।

भारतीय अध्यात्म मे निवृत्ति के स्थान पर प्रवृत्ति ने किस प्रकार स्थान लिया, इस तथ्य की प्रज्ञाचक्षु प० सुखलालजी इस प्रकार समीक्षा करते है "बुद्ध ने कहा ब्रह्म सारे जगत मे है। हमारे जीवन मे जो समानता है, वही ब्रह्म है और इसी ब्रह्म के अनुसार जीवन बनाने को उन्होने ब्रह्म-विहार का नाम दिया। इससे अहिंसा का विधायक मार्ग प्रवर्तक रूप निकला। प्राणीमात्र से प्रेम करना, उसकी सेवा करना, उसे कष्ट से मुक्त करना हमारा कर्तव्य है, इस विचार से अहिंसा के प्रवर्तक-मार्ग का बीजारोपण हुआ। भारत के बाहर अहिंसा के प्रवर्तक मार्ग का विकास ईसा के द्वारा हुआ। हमारे देश में इसका विकास थोडा और देर से हुआ। अशोक के राज्यकाल का अध्ययन करने से पता चलता है कि उनके व्यवहार मे निवर्तक कार्यो के साथ-साथ प्रवर्तक कार्यों पर भी बल दिया गया। हिंसा-निवृत्ति के साथ-साथ धर्मशाला बनवाना, पानी पिलाना, पेड लगाना आदि परोपकार के कार्य भी हुए। अशोक ने प्रचार किया कि हिंसा न करना तो ठीक है, पर दया-धर्म करना भी उचित है। इसमें शक नही कि हमारे देश मे दानशालाए, पिंजरापोल आदि बडी सख्या मे खुले, फिर भी हमें स्वीकार करना होगा कि हमारे देश में प्रवर्तक धर्म की अपेक्षा निवर्तक धर्म ही अधिक फैला।"[2]

प्रसगान्तर से वे कहते हैं "जैन-परम्परा ने प्रवृत्तिलक्षी अग की अपेक्षा निवृत्तिलक्षी अग पर ही अधिक भार दिया है। इसलिए वह बौद्ध स्थविर-मार्ग की भाति वैयक्तिक मोक्ष की चर्चा मे ही रस लेती रही है। जब बौद्ध परम्परा मे केवल वैयक्तिक मोक्ष की चर्चा ने असतोष उत्पन्न किया, तब उसमे से महायानी पथ फूट निकला। उसने सर्वसग्राही सर्वकल्याणकारी दृष्टि का विकास एव स्थापन यहा तक किया कि जब तक एक भी प्राणी बद्ध हो, तब तक वैयक्तिक

१ गीता रहस्य पृ० ६१३-१४
२. अहिंसा के आचार और विचार का विकास पृ० ७-८

मोक्ष शुष्क एवं रस-विहीन है। गीता और महायान दोनों अपने-अपने ढंग से लोक-संग्राही कर्म मार्ग का ही निरूपण करते हैं।"[1] यह हुआ अहिंसा के विभिन्न युगों में प्रचलित विभिन्न स्वरूपों का एक ऐतिहासिक अवलोकन। इससे पूर्व कि हम विवृत्त स्वरूपों की यथार्थता का विवेचन करें, यह आवश्यक होगा कि भगवान् श्री महावीर के पश्चात् इन अढाई हजार वर्षों में जैन-अहिंसा में क्या-क्या रूपान्तर आए, इस विषय पर एक झांकी डालें।

अहिंसा के अपवाद और पुण्य-मान्यताएं

अहिंसा-विभक्ति के दो कारण

वीर-निर्वाण से लेकर विगत दो सहस्र वर्षों में भारतीय जन-मानस को प्रभावित करने वाली नाना स्थितियां आईं। हम यह निःसंकोच मान सकते हैं, भगवान् श्री महावीर का युग अहिंसा-विकास का सर्वोच्च शिखर था। वैदिकों का उपनिषद्-चिन्तन और बौद्धों का अहिंसा-विचार भी भगवान् श्री महावीर के मन्तव्यों को बहुत प्रकार से बल दे रहे थे। कहा जा सकता है, इस समय अहिंसा आचार और विचार में अपने उत्कर्ष पर थी। अहिंसा की व्याख्याएं अधिक-से-अधिक निरपवाद थीं। क्रमशः उन व्याख्याओं में शैथिल्य का संचार हुआ। यह स्वाभाविक ही होता है कि हिमालय के उत्तुंग शिखरों से चला जल-प्रवाह उच्चावच उपत्यकाओं और अपत्यकाओं को पार कर जब नाना पदार्थ-पूरित समतल भूमि पर बहता है तो क्रमशः दूषित होता ही है। उस युग की अखण्ड अहिंसा विशेषकर दो ही कारणों से विभक्त होती गई। प्रथम कारण था, अपवाद-संयोजन और दूसरा कारण था, प्रवृत्ति-प्रधान और लौकिक एषणा-प्रधान विचारों को आध्यात्मिक रूप मिलना।

वैदिक परम्परा में अपवाद-संयोजन

वैदिक परम्परा में तो अपवाद बाहुल्य चिरपोषित था ही। एक ओर अहिंसा का निर्देशन था—अहिंसा ही परम धर्म है।[2] इस जगत में ऐसे सूक्ष्म जन्तु हैं, जिनका अस्तित्व नेत्रगम्य नहीं, केवल तर्कगम्य है। पलकों के निपात मात्र में न

१ अध्यात्म विचारणा पृ० १३१-३२

२. अहिंसा परमो धर्मः। महाभारत अ० ११. १३

जाने ऐसे कितने जीवों का नाश हो जाता है।[1] शत्रु और मित्र में, मान और अपमान में, शीत और उष्ण में, सुख और दुःख में जो सम है, जो अनासक्त है वह मेरा प्रिय है।[2] दूसरी ओर कहा गया सदैव क्रोध करना श्रेयस्कर नहीं होता और सदैव क्षमा करना भी। पण्डितजनों ने क्षमा के नाना अपवाद माने हैं।[3] आततायी होकर जो मनुष्य सामने आ रहा है, उसे तत्काल मार देना चाहिए, इस बात का विचार न किए बिना कि वह गुरु है, वृद्ध है, बालक है या बहुश्रुत ब्राह्मण।[4] वैदिक परम्परा में यही स्थिति सत्य, अचौर्य आदि आदर्शों की रही है। एक ओर कहा गया सारी सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व ऋत और सत्य पैदा हुए और सत्य ही से आकाश, पृथ्वी, वायु आदि पंच महाभूत स्थिर हैं।[5] सत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं है।[6] जो लोग इस संसार में स्वार्थ के लिए, परार्थ के लिए या विनोद में भी असत्य नहीं बोलते, वे स्वर्गगामी होते हैं।[7] दूसरी ओर मनुस्मृति

१ सूक्ष्मयोनीनि भूतानि तर्कगम्यानि कानिचित्।
पक्ष्मणोपि निपातेन येषां स्यात् स्कन्धपर्ययः॥

महाभारत शान्तिपर्व १५ २६

२. समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः॥

गीता १२ १८

३. न श्रेयः सततं तेजो न नित्यं श्रेयसी क्षमा।
तस्मान्नित्यं क्षमा तात पंडितैरपवादिता॥

महाभारत वनपर्व २८ ६, ८

४. गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्॥

मनुस्मृति ८ ३५०

५ ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत।
सत्येनोत्तभिता भूमिः।

ऋ० १०. ८५. १

६ नास्ति सत्यात्परो धर्मः।

महाभारत शान्तिपर्व १६२. २४

७. आत्महेतोः परार्थे वा नर्महास्याश्रयात्तथा।
न मृषा प्रवदन्तीह ते नराः स्वर्गगामिनः॥

महाभारत अनुशासनपर्व १४४. १९

और महाभारत जैसे ग्रन्थों मे बताया गया है कि हंसी मे स्त्रियों के साथ, विवाह के समय, जब अपने जीवन पर आ बने तब और सम्पत्ति की रक्षा के लिए इन प्रसंगों पर असत्य बोलने मे पाप नहीं होता।[1] एक ओर कहा गया है धर्माचरण भी छद्म-पूर्वक नहीं करना चाहिए।[2] दूसरी ओर कहा है कि यदि कोई आकर पूछे वध्य कहां है और तुम जानते हो तो तुम्हें वहां गूंगा बन जाना चाहिए। हूं हां करके बात टाल देनी चाहिए।[3] इसमे भी काम न चले तो झूठ बोल देना चाहिए।[4] विश्वामित्र मुनि ने दुर्भिक्ष मे क्षुधातुर होकर श्वपच के घर से कुत्ते का मांस चुराया और अपनी प्राण-रक्षा मे प्रवृत्त हुए। श्वपच ने जब उन्हें शास्त्र-बोध देना प्रारम्भ किया तो वे कहने लगे — चुप रह, मरने से तो जीना श्रेयस्कर ही है। जीवित रहकर तो व्यक्ति और भी धर्माचरण कर सकता है।[5] इस प्रकार वैदिक परम्परा मे और भी अनेकों आदर्श अपवाद-संयोजन से निर्बल और निष्प्राण हुए हैं।

जैन परम्परा में अपवाद-संयोजन

अहिंसा के विषय में सर्वाधिक कठोर रुख अपनाने वाली जैन परम्परा मे भी देश, काल और परिस्थितियों के साथ सामंजस्य बिठाते-बिठाते उसका अहिंसा का विचार कहां से कहां तक पहुंच गया। भगवान् श्री महावीर का सन्देश प्राणी-मात्र के प्रति मैत्री रखना था।[6] उसमे सज्जन या दुर्जन का कोई अपवाद नहीं माना जा सकता। व्यक्ति और समूह का ऐहिक या पारत्रिक हित हिंसा-साध्य नहीं हो सकता। लेकिन काल-क्रम के साथ साधु-संघ के आचार विषयक नियमों

१ न नर्मयुक्तं वचनं हिनस्ति न स्त्रीषु राजन्न विवाहकाले।
प्राणात्यये सर्वधनापहारे पंचानृतान्याहुरपातकानि॥
महाभारत अ० ८२ १६ और शान्तिपर्व १०६ तथा मनु० ८ ११०

२. न व्याजेन चरेद्धर्मं।
महाभारत अ० २१५-३४

३ जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोक आचरेत्।

४. अवश्य कूजितव्ये वा शंकेरन् वाप्यकूजनात्।
श्रेयस्तत्रानृतं वक्तुं सत्यादिति विचारितम्।
महाभारत शान्तिपर्व १०६ १६

५. जीवितं मरणाच्छ्रेयो जीवन्धर्ममवाप्नुयात्।
महाभारत शान्तिपर्व १४१

६ मेत्तिं भूएसु कप्पए।

को लेकर, धर्म-प्रभावना को लेकर या धर्म और धर्म-संघ के संरक्षण को लेकर सूक्ष्म और स्थूल हिंसाएं भी अहिंसा की कोटि में आ गई। फलाहार हिंसापरक होने के कारण जैन मुमुक्षु के लिए वर्जित है। असंस्कारित आम्रफल का भक्षण करने वाला मुमुक्षु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त पाता है,[1] यह शास्त्रीय विधान है। आगे चलकर उसके साथ यह अपवाद जुड़ जाता है रोगापनयन के लिए व क्षुधा-शान्ति के लिए साधु सचित्त आम्रफल का भक्षण भी करे तो अहिंसा का ही आचरण करता है, हिंसा का नहीं।[2] सचित्त वृक्ष पर चढ़ना साधु के लिए वर्जित है।[3] पर आगे चलकर ग्लान की औषधि के लिए, मार्ग में क्षुधा-निवर्तक फलों के लिए, जल-प्रवाह से बचने के लिए, चोर, राजा, सिंह, हाथी आदि के भय से बचने के लिए वृक्ष पर चढ़ना निर्दोष मान लिया जाता है।[4]

आधाकर्म दूषित आहार व मांस

एषणा समिति भी आपवादिक स्थितियों में यहां तक मुक्त कर दी गई कि

१ जे भिक्खू सचित्तं अंबं भुंजइ, भुंजंत वा सातिज्जति।

निशीथसूत्र उद्देशक १५ सू० ५

२. बितियपदमणप्पज्झे, भुंजे अविकोविए व अप्पज्झे।
जाणते वा वि पुणो, गिलाण अद्धाण ओमे वा ॥
खित्तादिगो अणप्पज्झो वा भुंजति, सेहो अविकोवियत्तणओ अजाणतो, रोगोवसमणिमित्तं वेज्जुवदेसितो गिलाणो वा भुंजे, अद्धाणोमेसु वा असंथरंता भुंजता विसुद्धा ॥

निशीथसूत्र सभाष्य चूर्णिका उद्देशक १५ गाथा ४६६५

३ जे भिक्खू सच्चित्तरुक्खं दुरुहइ, दुरुहंत वा सातिज्जति।

निशीथसूत्र उद्देशक १२ सूत्र ९

४. वितियपदमणप्पज्झे, गेलण्णऽद्धाण ओम उदए य।
उवही सरीर तेणग, सणप्फए जड्डमादीसु ॥
खेत्तादिया अणप्पज्झ दुरुहेज्ज, गेलण्णे ओसघट्ठा, अद्धाणोमे असंथरता पलंबट्ठा, उदगपूरे आयरक्खट्ठा, उवधिसरीरतेणगेसु रायबोधिगादिभएसु वा दुरुहिता णिलुक्कति, सीहादिसणप्फए जड्डम्मि वा वधाय आवतते आयरक्खणट्ठा दुरुहति। तत्थ पुव्वं अचित्ते, ततो परित्तमीसे, ततो अणंतमीसे, ततो परित्तसचित्ते, ततो अणंतसचित्ते, एवं कारणा जयणाए ण दोसा।

निशीथसूत्र सभाष्य चूर्णिका उद्देशक १२ गाथा ४०४१

जहा के लोगो को यह पता हो कि 'जैन श्रमण मास नही लेते', वहा आधाकर्म दूषित (साधु के लिए बनाया गया) आहार लेने मे कम दोष है और मास लेने मे अधिक दोष है, क्योकि परिचित जनो के यहा से मास लेने पर निन्दा होती है। किन्तु जहा के लोगो को यह ज्ञात नही कि जैन श्रमण मास नही खाते, वहा मास का ग्रहण करना अच्छा है और आधाकर्म दूषित आहार लेना अधिक दोषावह है। क्योकि आधाकर्मिक आहार लेने मे जीव-घात है। अतएव ऐसे प्रसग मे सर्वप्रथम द्वीन्द्रिय जीवो का मास ले, उसके अभाव मे क्रमश त्रीन्द्रिय आदि का। इस विषय मे स्वीकृत साधु-वेष मे ही लेना या वेष बदलकर, इसकी भी चर्चा है।[1] इस चर्चा से यह निष्कर्ष निकलता है, अहिंसा के सस्कार बद्धमूल होने के कारण आपवादिक स्थिति मे भी अनुद्दिष्ट अर्थात् सहज रूप से उपलब्ध निर्जीव मास को ग्रहण करके भी उद्दिष्ट हिंसा-जन्य आधाकर्मी आहार ग्रहण से बचने के लिए कहा गया है, पर इससे अहिंसा के प्रति होने वाले क्रमिक शैथिल्य का ही आभास मिलता है। दो अवाछनीय प्रवृत्तियो मे से प्रथम एक को अपनाया गया और फिर दूसरी को भी। रोगादि विशेष स्थितियो मे आधाकर्मी आहार ग्रहण करने के भी विधि-विधान देखे जाते हैं।[2]

हंस तेल की भी ग्राह्यता

लगता है मुमुक्षु लोग आत्मधर्मी न रहकर शरीरधर्मी हो गये थे। रोगावस्था मे चोरी से या मन्त्र-प्रयोग से अपेक्षित औषधि प्राप्त करना उचित मानने लगे थे।[3] औषधि मे हस तेल जैसी वस्तु लेना भी अनुचित नही माना गया।[4] चूर्णि-

१ जत्थ णज्जति जहा 'एते समणा मसं ण खायति' तत्थ सलिगेण पिसिते घेप्पमाणे उड्डाहो भवति, अतो वर अहोकम्म ण पिसियं तु। जत्थ पुणो ण णज्जति तत्थ वर पिसितं, एवं पिसियग्गहणे दिट्ठे पुव्वं बेइदियपिसित घेतव्वं, तस्सासति तेइदियाण, एवं असतीते जाव पंचेदियाण पिसितं ताव णेयव्वं।

निशीथसूत्र चूर्णिका पीठिका गाथा ४३७-३८

२. सद्धर्ममण्डन पृ० ४८८

३. एमेव गिहत्थेसु वि, भद्दगमादीसुपढमतो गिण्हे।
अभियोगासति ताले, ओसोवण अंतधाणादी॥

निशीथ भाष्य गाथा ३४७

४. एमेव य ओमंमि वि रायदुट्ठे भए व गेलण्णे।
अगतोसहादिदव्वं कल्लाणग-हंसतेल्लादी॥

निशीथ भाष्य गाथा ३४८

कार ने हंस तेल बनाने की विधि का उल्लेख किया है हंस को चीरकर, मल-मूत्रादि निकालकर, उस प्रकार के पदार्थों से भरकर उसकी सिलाई कर दी जाती है। फिर उसे पकाकर जो तेल तैयार किया जाता है, वह हंस तेल होता है।[1] भले ही साधु ऐसी पाक-क्रिया स्वयं न करते हों, पर रोग-मुक्ति के लिए चौर्य आदि प्रयत्नों से भी उस प्रकार से निर्मित औषधि को प्राप्त करना भयंकर देह-ममता का सूचक है। इस प्रकार की अनन्तानुबन्धी जैसी ममता में क्या सम्यग् दर्शन और सम्यग् चारित्र टिक सकते थे?

विरोधी को अप्रत्यक्ष मृत्यु दण्ड

प्राणीमात्र की अहिंसा में विश्वास रखने वाले साधकों ने नाना ज्वलन्त-हिंसाओं को किस प्रकार अहिंसा में ला दिया था, उसके भी ज्वलन्त उदाहरण आगम-अतिरिक्त साहित्य में मिलते हैं। धर्म-रक्षा के लिए अर्थात् साधु-संघ या चैत्य की रक्षा के लिए विरोधी व्यक्ति का पुतला बनाकर, उसे अभिमंत्रित कर यदि खंडित किया जाए तो वह हिंसा हिंसा नहीं है।[2] वह मन्त्रवाद का युग था। यह माना जाता था, उक्त प्रकार से अभिमंत्रित पुतले पर मर्माघात करने से शत्रु पर मर्माघात होता है और इस प्रकार वह अप्रत्यक्ष रूप से ही मारा जा सकता है।

कोई आततायी, दुराचारी या पश्यतोहर किसी आचार्य, संघ आदि का वध करना चाहता है, किसी साध्वी का अपहरण करना चाहता है या चैत्य आदि की सम्पत्ति को लूटना चाहता है, ऐसे आततायी व दुराचारी का साधु स्वयं वध भी

१. हंसो पक्खी भण्णति, सो फाडेऊण मुत्तपुरीसाणि णीहरिज्जति, ताहे सो हंसो दव्वाण भरिज्जति, ताहे पुणरवि सो सीविज्जति, तेण तदवत्थेण तेल्लं पच्चति, तं हंसतेल्लं भण्णति। आदि सद्दातो सतपाग-सहस्सपागा य तेल्ला घेप्पन्ति। एवमादियाण दव्वाण आभिओगादी पूर्वक्रमेण ग्रहणं कर्तव्यमिति।

निशीथसूत्र चूर्णिका पूर्व पीठिका गाथा ३४८

२. जावतिया उवउज्जति पमाण-गहणे व जाव पज्जत्तं।
मंतेऊण व विंधइ पुत्तल्लगमादि पडिणीए॥
जो साहु-संघ-चेतित-पडिणीतो तस्स पडिमा मिम्मया णामकिता कज्जति, सा मंतेणाभिमंतिऊणं मंमदेसे विज्झति, ततो तस्स वेयणा भवति मरति वा, एतेण कारणेण पुत्तलय पि पडिणीय-मद्दण-णिमित्तं कज्जति, वद्धिय-वशीकरण-णिमित्तं वा कज्जति।

निशीथसूत्र सभाष्य चूर्णिका पीठिका गाथा १६७

करे तो भी वह विशुद्ध ही है अर्थात् हिंसक नही है।[1]

कोकण देशीय साधु द्वारा तीन सिंहो की हिंसा

एक बार एक आचार्य अपने श्रमण समुदाय के साथ विहार कर रहे थे। किसी दिन सारे साधु-सघ को भीषण जगल मे प्रवास करना पडा। सघ मे एक कोकण देश का साधु था। वह अत्यन्त बलशाली था। रात को सघ की रक्षा का भार उसे सौंपा गया। उसने आचार्य से पूछा, हिंस्र पशु का प्रतिकार बिना कष्ट पहुचाए ही किया जाए या कष्ट पहुचा करके भी? आचार्य ने कहा, यथासम्भव बिना कष्ट पहुचाए ही किया जाए, पर सम्भव न हो तो दूसरे प्रकार से भी। रात मे उस कोकण देशीय साधु को तीन सिंह मार ही देने पडे। प्रात उस हिंसा के प्रायश्चित्त की चर्चा चली और वह हिंसक साधु शुद्ध माना गया।[2]

१ आयरिय कोइ पडिणीयो विणासेउमिच्छति, सो जइ अण्णहा ण ट्ठाति तो से ववरोवणं पि कुज्जा। एव गच्छधाए वि। बोहिगतेणे यत्ति जे मेच्छा, माणुसाणि हरंति ते बोहिगतेणा भण्णति। एते आयरियस्स वा गच्छस्स वा वहाए उवट्ठिता। च सद्दातो कोति सजति बला घेत्तुमिच्छति, चेतियाण वा चेतियदव्वस्स वा विणासं करेइ। एव ते सव्वे अणुसट्ठीए अट्ठायमाणा ववरोवेयव्वा। आयरियमादीण णित्थारण कायव्वं एवं करेंतो विसुद्धो।

निशीथसूत्र चूर्णि पीठिका गाथा २८६

२. एगो आयरिओ बहुसिस्सपरिवारो उ संझकालसमये वहुसावयं अडविं पवण्णो। तंमि य गच्छे एगो दढसघयणी कोकणगसाहू अत्थि। गुरुणा य भणियं कह अज्जो! जं एत्थ दुट्ठसावयं किं वि गच्छ अभिभवति त णिवारेयव्वं, ण उवेहा कायव्वा। ततो तेण कोकणगसाहुणा भणियं—कह? विराहितेहिं अविराहितेहिं णिवारेयव्वं? गुरुणा भणियं 'जइ सक्कइ तो अविराहितेहिं पच्छा विराहितेहिं वि ण दोसो'। ततो तेण कोकणगेण लवियं 'सुवध वीसत्था अह मे रक्खिस्सामि'। तो साहवो सव्वे सुत्ता। सो एगागी जागरमाणो पासति सीहं आगच्छमाणं। तेण हडि त्ति जंपिय ण गतो, ततो पच्छा उट्ठाइऊण सणियं लगुडेण आहतो, गओ परितावियो। पुणो आगत पेच्छति, तेण चिंतियं ण सुट्ठु परितावियो, तेण पुणो आगओ, पुणो गाढयर आहतो। पुणो वि ततियवारा एवं चेव, णवरं सव्वायामेण आहतो, गता रातो। खेमेण पच्चूसे गच्छंता पेच्छति सीहं

ब्राह्मणो का सामूहिक वध

एक वार एक राजा ने जैन साधुओ से कहा, सभी जैन साधु ब्राह्मणो के चरणो लगे। नही तो वे देश से निकल जाए। सारा सघ एकत्रित हुआ, आचार्य ने सवको आह्वान किया। कोई साधु किसी भी उपक्रम से शासन की प्रभावना वढा सके तो वढाए। एक साधु ने यह चुनौती झेली। वह राजसभा मे गया और राजा से बोला, आप सव ब्राह्मणो को एकत्रित कर लीजिए। हम उन्हे नमस्कार करेंगे। राजा ने वैसा ही किया। साधु ने एक कणेर की लता को अभिमन्त्रित कर सव ब्राह्मणो का सर काट डाला। सघ-हितार्थ होने के कारण इस कार्य को भी विशुद्ध माना गया।[1]

अपवाद-संयोजन मे भाष्यकार और चूर्णिकारो का योग

भाष्य और चूर्णियो मे इस प्रकार अहिंसा-धर्म सम्वन्धी अनेकानेक अपवाद

अणुपथे मय, पुणो अदूरे पेच्छति बितिय, पुणो अदूरंते ततिय। जो सो दूरे सो पढमं सणिय आहओ, जो वि मज्झे सो वितिओ, जो णियडे सो चरिमो गाढ आहतो मतो। तेण कोंकणएण आलोइयमारियाण, सुद्धो। एव आयरियादीकारणेसु वावादितो सुद्धो। गता पाणातिवायस्स दप्पिया कप्पिया पडिसेवणा। गतो पाणातिवातो।

निशीथसूत्र चूर्णिका पीठिका गाथा २८६

१ एगेण रातिणा साघवो भणिता 'धिज्जाइयाण पादेसु पडह'। सो य अणु सट्ठिहिं ण ट्ठाति। ताहे सधसमवातो कतो। कत्थ भणियं 'जस्स काति पवयणुब्भावणसत्ती अत्थि सो त सावज्ज वा असावज्जं वा पउजउ।' तत्थ एगेण साहुणा भणियं 'अहं पयुजामि'। गतो सघो रातीणो समीव, भणीओ य राया 'जेसिं धिज्जाइयाण अम्हेहिं पाएसु पाडियव्व तेसिं समवातं देहि तेसिं सयराह अम्हे पायेसु पडामो, णो य एगेगस्स'। तेण रण्णा तहा कयं। संघो एगपासे ट्ठितो। सो य अतिसयसाहू कणवीरलय गहेऊण अभिमंतेऊणं य तेसिं धिज्जाइयाण सुहासणत्थाण त कणवीरलयं चुडलयं व चुडलिवंदणागारेण भमाडेतो। तक्खणादेव तेसिं सव्वेसिं धिज्जातियाण सिराणि णिवडियाणि। ततो साहू रुट्ठो रायाणं भणति 'भो दुरात्मन्! जति ण ट्ठासि तो एव ते सवलवाहण चुण्णेमि' सो राया भीतो संघस्स पाएसु पडितो उवसंतो य। जहा सोवि राया तत्थेव चुण्णतो। एव पवयणत्थे पडिसेवतो विसुद्धो।

निशीथसूत्र चूर्णिका पीठिका गाथा ४८७

मार्ग मिलते हैं। यह ठीक है, आगमों की अक्षरश व्याख्या पर समग्र आचार-व्यवहार प्रतिष्ठित नहीं हो सकता। व्याख्याओं, स्पष्टीकरणों एवं विवेचनों की अपेक्षा होती है, किन्तु उन सबका यह तात्पर्य नहीं होता कि हम मूल को छोड़कर कहां-के-कहां चले जाएं। यह स्पष्ट है कि भाष्यकारों व चूर्णिकारों ने इस अर्थ में बहुत ही स्वैराचार बरता है। कहां भगवान् महावीर की क्षमा, तितिक्षा व मैत्री-प्रधान जीवन-चर्या और कहां ये रोमाञ्चित कर देने वाले हिंसापरक उदाहरण। संगम देव ने आकर भगवान् श्री महावीर को बीस[1] मारणान्तिक परिषह दिए। छद्मस्थावस्था में अनार्य और म्लेच्छ लोगों ने नाना यातनाएं दीं। गोशालक ने उनके देखते-देखते सर्वानुभूति और सुनक्षत्रमुनि को तेजोलेश्या से भस्म कर डाला। स्वयं भगवान् श्री महावीर को तेजोलेश्या से परिक्लान्त किया।[2] क्या भगवान् महावीर ने कभी उन प्रत्यर्थियों की हिंसा के लिए भी किसी अपवाद मार्ग का विधान किया? चण्डकौशिक के मर्माघात और ग्राम्यजनों द्वारा किये गये कर्णगत-कीलिका-रोपण पर क्या भगवान् में एक क्षण के लिए भी प्रतिहिंसा जागृत हुई? कहां वह क्षमा और तितिक्षा-प्रधान जैन-संस्कृति जिसमें गजसुकुमाल, खंधक, मेतार्य प्रभृति मुनियों के शान्त व सौम्य आचार और कहां ये प्रतिशोध-मूलक विधि-विधान? सच बात तो यह है कि वह युग जैनधर्म के लिए जीवन और मरण का प्रश्न बनकर रहा है। समय-समय पर होने वाले वैदिकों और बौद्धों के हिंसक आक्रमणों में, जैनधर्म विरोधी राजाओं के कठोर शासन में, प्रलम्बतर और भयंकर दुर्भिक्षों में, अरण्य-प्रधान और अनार्य-प्रधान देशों के पाद-विहारों में जैनधर्म और जैन श्रमण-संघ को बचाए रखना अवश्य एक दुष्कर अनुष्ठान था। लगता है, सम्प्रदाय-प्रतिस्पर्धा के उस वातावरण में ही इस प्रकार के विधि-विधानों का निर्माण हुआ है। आज की परिस्थितियों में उक्त विधि-विधान जितने अभद्र लगते हैं, उन परिस्थितियों में सम्भवत वे वैसे न लगे हों। कुछ भी हो, यह तो मानना ही पड़ेगा, अहिंसा-सिद्धान्त के साथ यह न्याय नहीं हुआ है।

अब्रह्म-सेवन व प्रायश्चित्त विधान

छद्मस्थ मुनि परिस्थितिवश नाना दोषों का सेवन कर लेता है। भगवान् श्री महावीर ने मूल निशीथसूत्र में इसके लिए नाना प्रायश्चित्त बतलाए हैं। यदि यहां भी ऐसा ही माना गया होता तो अहिंसा-सिद्धान्त की निर्मम हत्या नहीं

१. कल्पसूत्र व्याख्या
२. भगवतीसूत्र शतक १५

होती। हिंसा करना और उसे अहिंसा मानना, यह दोहरा पाप है। चूर्णिकारो और भाष्यकारो ने इस विषय मे चिन्तन ही न किया हो, ऐसी बात नही है। अपवाद मार्ग मे हिंसा-सेवन की तरह अब्रह्म-सेवन का विचार भी चला है। ब्रह्मचारी साधुओ के सम्मुख ऐसे प्रश्न आए होगे या आने सम्भावित माने गए होगे कि राजा के अन्त पुर मे पुत्रेच्छा से किसी साधु को अब्रह्म-सेवन के लिए विवश किया जाए और उसे यह बताया जाए, तुम अब्रह्म का सेवन करके ही सकुल यहा से जा सकते हो, नही तो तुम्हे प्राणदण्ड भोगना होगा। ऐसी परिस्थिति मे साधु वहा अब्रह्मचर्य का सेवन करता है। दूसरा प्रसग तरुण साधु शीलभग करना भी नही चाहता और वासना पर विजय पा लेना भी सम्भव नही मानता, ऐसी स्थिति मे कम-से-कम दोष लगाकर वह अपने सयम का निर्वाह सोचता है। तथा-प्रकार के मुमुक्षु प्रायश्चित्त के भागी हैं या नही, यह विषय भी बहुत प्रकार से भाष्य और चूर्णियो मे सोचा गया है। उस चिन्तन का अन्तिम निष्कर्ष यह होता है कि हिंसा आदि का सेवन राग और द्वेष से रहित रहकर भी किया जा सकता है, परन्तु अब्रह्मचर्य का सेवन रागादि रहित स्थिति मे सम्भव नही है, इसलिए अब्रह्म का सेवन कैसी ही परिस्थिति मे हो, उसकी कितनी ही यत्नापूर्ण प्रतिसेवना हो, शुद्धि के लिए न्यूनाधिक प्रायश्चित्त तो लेना ही होगा।[1] यह जितना यथार्थ है कि अब्रह्मचर्य का सेवन रागादिभाव लाए बिना सम्भव नही है, उतना ही द्वेषादिभाव लाए बिना किसी मनुष्य या हिंस्र पशु के वध मे प्रवृत्त होना, यह भी सम्भव नही है, पर तात्कालीन आचार्यों के चिन्तन मे यह क्यो नही आया, अवश्य एक आश्चर्य है। हो सकता है, महत् पुण्य का प्रलोभन हुए बिना मुमुक्षु लोग तथा-कथित हिंसाजन्य शासन-प्रभावनाओ के लिए प्रस्तुत न होते हो और वैसे अवसर अधिक आते हो, अपेक्षाकृत अब्रह्म-सेवन की विवशताओ के। इसलिए प्रायश्चित्त की अनिवार्यता अब्रह्म के प्रसग से आवश्यक मानी गई हो और हिंसादि आस्रवो के प्रसग से आवश्यक नही मानी गई हो। इस प्रकार भगवान् श्री महावीर से लेकर विगत दो सहस्र वर्षों मे आचार्यों और साधुओ ने अप-

१ क गीयत्थो जतणाए, कडजोगी कारणमि णिद्दोसो।
एगेसिं गीत कडो, अरत्तऽदुट्ठो उ जतणाए॥
जइ सव्वसो अभावो, रागादीणं हवेज्ज णिद्दोसो।
जतणाजुतेसु तेसु, अप्पतरं होति पच्छित्तं॥
निशीथसूत्र भाष्य गाथा ३६६-६७

ख बृहत्कल्प भाष्य गाथा ४६४६-४७

वादों के नाम पर अहिंसा को केवल कलेवर मात्र बना दिया। जब हम बड़े-बड़े अपवादों की चर्चा कर आए हैं तो साध्वाचार के सामान्य नियमों में अपवादों के नाम पर कितना शैथिल्य आया होगा, यह सहज ही कल्पना में आ सकता है। वहां भी अहिंसा कितनी जर्जरित हुई होगी, यह वर्णन का विषय नहीं रह जाता।

आचारांग सूत्र में भगवान् श्री महावीर कहते हैं- धर्म के लिए हिंसा करने में कोई दोष नहीं है, यह अनार्य-वचन है।[1] प्रतिमा के लिए पृथ्वीकाय की हिंसा करने वालों को उन्होंने मन्द बुद्धि कहा[2], तब धर्म प्रभावना के नाम पर होने वाले सूक्ष्म या स्थूल हिंसाजन्य कार्य भगवान् श्री महावीर की अहिंसा के अंग हो सकते हैं, यह सोचा ही नहीं जा सकता।

अहिंसा-विभक्ति का दूसरा कारण

पुण्य-मान्यता का हेतु

भगवान् श्री महावीर की अहिंसा उत्तम निवृत्ति-प्रधान थी। उसमें केवल अपना और दूसरे का आत्महित-चिन्तन ही प्रमुख था। आत्मा के उन्नयन और आत्मा के ऊर्ध्व संचार की ही वहां चिन्ता थी और आत्मगत कषायादि क्लेशों से रहित होना और रहित करना ही मोक्ष था। लौकिक अभ्युदय पुण्य-प्रधान होने से धर्मानुगत था, पर धर्माचरण का उद्देश्य नहीं। भगवान् श्री महावीर के पश्चात् गीता का कर्मयोग और बौद्ध महायानों का सामुदायिक मोक्षवाद आदि ज्यों ही जोरों से फैले, जैन-परम्परा भी उनसे प्रभावित हुए बिना कैसे रहती? भूखे को भोजन देना, प्यासे को पानी पिलाना और दुःखियों के दुःख को दूर करना यह एक ऐसा विचार था, जो सामाजिक अपेक्षाओं का भी मुख्य अंग था और जब इसे मोक्षाराधन का स्वरूप भी मिल गया तो उसका समाज के द्वारा व्यापक रूप से अपनाना सहज ही था। वह युग अध्यात्म चर्चा का था। विभिन्न धर्मों में व्यवस्थित शास्त्रार्थ हुआ करते थे। हरेक धर्म के लोग अपने को श्रेष्ठ और दूसरों को निकृष्ट बताते। बहुत सम्भव है, जैनधर्म को न्यून बतलाने का उसी युग में मोक्ष-चिन्ता और लोकैषणा का यह भेद ही प्रमुख उद्घोष बन गया हो। इसी विवशता

१. आचारांगसूत्र
२ प्रश्नव्याकरणसूत्र प्रथम अध्ययन

मे जैनाचार्यों को लोकैषणा और शिवैषणा को जोडने के लिए पुण्यरूप कडी का आविष्कार करना पडा हो। जैन-शास्त्रो ने यह अवकाश नही रख छोडा था कि उन्हे शिरोधार्य करते हुए सामाजिक और व्यवहारिक क्रिया-कलापो को सीधे-सीधे धर्म का रूप दिया जा सके।

असंयति दान व अनुकम्पा दान

जैनतत्त्व-निरूपण के आधार पर पुण्य शुभयोगजन्य और निर्जरा का सहभावी है।[1] पुण्य और निर्जरा की क्रिया एक है। पुण्यबन्ध की कोई स्वतन्त्र क्रिया भी हो सकती हैं, यह धारणा जैन-परम्परा मे नही थी, परन्तु इस युग-प्रवाह के साथ सगत होने के लिए आगे चलकर आई। 'अणुकम्पादाण पुण जिणेहि न कयाई पडिसिद्ध'[2] अनुकम्पा दान का भगवान् ने कही निषेध नही किया। अनुकम्पा दो प्रकार की है अन्नादि दानरूप द्रव्य और धर्म-मार्ग-प्रवर्तन-रूप भाव।[3] व्यवहारिक अनुकम्पा को आचार-सगत करने के विषय मे मतभेदमूलक चर्चाए भी हुई हैं। पूर्व पक्ष ने कहा दीन, अनाथ व्यक्ति असयत है, इसलिए उन्हे दान देना दोप-पोषक होने से असगत[4] है, अर्थात् धर्म पुण्य का हेतु नही है। उत्तरपक्ष का यह आग्रह रहा साधारणतया यह यथार्थ है कि असयति-दान मोक्ष तथा धर्म-पुण्य का हेतु नही बनता, किन्तु अनुकम्पा-दान इसका अपवाद है। यह शुभाशय का हेतु होने से पुण्य-बन्ध का कारण है।

पुण्य-निष्पत्ति के कारण

उत्तर पक्ष के विषय मे यह निस्सकोच कहा जा सकता है, यह तात्कालिक लोक प्रवाह का अनुगमनमात्र ही था। जैन-आगम इस विषय मे स्वय स्पष्ट है। वहा पुण्य सम्बन्धी जितने उल्लेख मिलते हैं, वे या तो पुण्य को निर्जरा का

१. तच्च धर्माविनाभावि। सत्प्रवृत्त्या हि पुण्यबन्ध, सत्प्रवृत्तिश्च मोक्षोपायभूतत्वात् अवश्य धर्म, अतएव धान्याविनाभावि बुसवत् तद् धर्मं विना न भवति।
— श्री जैनसिद्धान्तदीपिका चतुर्थ प्रकाश, सूत्र १४

२ द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका २७

३ सा चानुकम्पा द्रव्यभावाभ्या द्विधा द्रव्यत अन्नादि दानेन, भावत धर्ममार्ग-प्रवर्तनेन।
— धर्मरत्न प्रकरण

४. दीनानामसयतत्वात् तद्दानस्य दोषपोषकत्वादसगत तद्दानम्।
पचाशक ९

सहभावी सिद्ध करते हैं या उसे सत्प्रवृत्तिजन्य। एक भी उल्लेख ऐसा नहीं मिलता, जहां निर्जरा की उद्भावक सत्प्रवृत्ति न हो और केवल पुण्य-निष्पन्न हुआ हो। अठारह पापों का सेवन न करने से कल्याणकारी कर्मों (पुण्य) का बन्ध होता है।[1] गुरु-वन्दन से नीच गोत्रकर्म का क्षय होता है और उच्च गोत्र-कर्म का बन्ध होता है।[2] धर्म-कथा से निर्जरा होती है, धर्म-प्रभावना होती है और उससे शुभ कर्मों का बन्ध होता है।[3] आचार्य आदि की सेवा करता हुआ साधु तीर्थंकर नाम गोत्रकर्म उपार्जन करता है।[4] प्राण-हिंसा न करने से, असत्य न बोलने से व शुद्ध साधु को दान करने से शुभ दीर्घ आयुष्य का बन्धन होता है।[5] बहुत सारे

१. कहण्णं भंते ! जीवाणं कल्लाण कम्मा कज्जंति ? कालोदाई ! से जहा नामए केइ पुरिसे मणुण्णं थालीपाग सुद्धं अट्ठारस वंजणा उल ओसह मिस्सं भोयणं भुंजेज्जा तस्सणं भोयणस्स आवाए नो भद्दए भवइ तओपच्छा परिणममाणे२ सुरूवत्ताए सुवण्णत्ताए जाव सुहत्ताए नो दुक्खत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमइ। एवामेव कालोदाई ! जीवाणं पाणाइवायवेरमणे जाव परिग्गहवेरमणे कोह-विवेगे जाव मिच्छादंसणसल्लविवेगे तस्सणं आवाए नो भद्दए भवइ तओ पच्छा परिणममाणे परिणममाणे सुरूवत्ताए जाव नो दुक्खत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमइ। एवं खलु कालोदाई ! जीवाणं कल्लाण कम्मा जाव कज्जंति।

भगवती सूत्र शतक ७ उद्देशक १०

२. वंदणएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? वंदणएणं नीयागोय कम्मं खवेइ उच्चा-गोय कम्मं निबंधइ, सोहग्गं च णं अपडिहयं आणा फलं निव्वत्तेइ दाहिणा भावं च णं जणयइ।

उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन २९

३. धम्म कहाएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? धम्म कहाएणं निज्जरं जणयइ। धम्म कहाएणं पवयणं पभावेइ। पवयण पभावेणं जीवे आगमेसस्स भद्दत्ताए कम्मं निबंधइ।

उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन २९

४ वेयावच्चेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? वेयावच्चेणं तित्थयर णाम गोत्तं कम्मं निबंधइ।

उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन २९

५ कहण्णं भंते ! जीवा सुभ दीहाउयत्ताए कम्म पकरेंति ? गोयमा ! नो पाणे-अइवाएत्ता नो मुसं वइत्ता तहारूव समणं वा माहणं वा वंदित्ता जाव पज्जु-

प्राण, भूत, जीव, सत्त्वो को दु ख न देने से, शोक उत्पन्न न करने से, विलापात न कराने से, अश्रुपात न कराने से, तर्जन न करने से, परिताप न पहुचाने से साता वेदनीय कर्म का वन्ध होता है।[1] उक्त उल्लेखो से यह स्पष्ट हो जाता है, असयति प्राणियो की अनुकम्पा के सम्बन्ध से जो पुण्य-वन्ध का विधान है, वह अनुकम्पा दु ख न देने रूप है। वहा केवल आत्म-सयमरूप शुभयोग की प्रवृत्ति है। जहा वन्दन, वैयावृत्ति आदि प्रवृत्तिया हैं, उनका सम्बन्ध आचार्य आदि सयति आत्माओ से है।

अनुकम्पा दान व धर्म दान

दस प्रकार के दानो मे एक अनुकम्पादान भी है।[2] पर उसमे धर्म या पुण्य होने का कोई उल्लेख शास्त्रो मे नही है। यह दान की दसो सज्ञाओ से स्वत प्रतिभासित होता है। वहा केवल दानमात्र के दस हेतुओ को वताया गया है। वेश्या आदि को दिया जाने वाला अधर्म दान और लज्जा दान, भय दान आदि भी उन दस भेदो मे है। धर्म दान के तीन भेद किये गए है अभय दान, वोधि दान, सुपात्र दान। दस दानो मे पारमार्थिक दान केवल धर्म दान है, शेष लौकिक हैं। धर्म व पुण्य के हेतु नही हैं। पुण्य नौ प्रकार का कहा गया है आहार पुण्य, पानी पुण्य, स्थान पुण्य, शय्या पुण्य, वस्त्र पुण्य, मन पुण्य, वचन पुण्य, काय पुण्य, नमस्कार पुण्य।[3]

वासेत्ता अण्णयरेण मणुण्णेणं पीइकारएण असण पाण खाइम साइम पडिलाभित्ता एव खलु जीवा जाव पकरति।

भगवतीसूत्र शतक ५, उ० ६

१. पाणाणुकपयाए, भूयाणुकंपयाए, जीवाणुकपयाए, सत्ताणुकपयाए, बहूणं पाणाणं जाव सत्ताणं अदुक्खणयाए असोयणयाए अजूरणयाए अतिप्पणयाए अपिट्टणयाए अपरियावणयाए।

भगवतीसूत्र शतक ७ उ० ६

२. अणुकपा सगहे चेव भया कालुणि एत्तिय।
लज्जाए गारवेणं च अधम्मेय पुण सत्तमे॥
धम्मे अट्ठमे वुत्ते काहिइय कयन्तिय॥

ठाणाग सूत्र ठा० १०

३. नव विहे पुण्णे पन्नते तंजहा अण्णपुण्णे पाणपुण्णे लेणपुण्णे सयणपुण्ण वत्थपुण्णे मणपुण्णे वयपुण्णे कायपुण्णे णमोक्कारपुण्णे।

ठाणाग सूत्र ठाणा ९

नौ प्रकार के पुण्यो की यह शब्द-सकलना स्वय बोलती है, सयमी पात्र को दिया गया दान ही पुण्य-बन्ध का हेतु है। नही तो इस शब्द-सकलना मे गौदान[1] पुण्य, अश्वदान पुण्य आदि अनेको पुण्यो को स्थान दिया गया होता, किन्तु यह न होकर केवल सयति के द्वारा ग्राह्य होने वाले आहार, पानी, वस्त्र आदि पदार्थों का उल्लेख किया गया है। भगवती सूत्र मे असयति दान को एकान्त[2] पाप का कारण तथा सयति दान को एकान्त निर्जरा[3] का हेतु बतलाया गया है।

कुछ भी हो, इन सारे शास्त्रीय विधानो की उपेक्षा करके भी प्रवृत्तिमूलक धारणाए जैन-परम्परा मे आगे बढी और आज भी वे अधिकाश जैन शाखाओ मे मान्य हो रही है। जैन-परम्परा के इस इतिहास मे उल्लेखनीय बात तो यह रही है कि वह परम अध्यात्ममूलक होने के कारण तथाप्रकार की लोकोपकारक प्रवृत्तियो को दो सहस्र वर्षों के प्रतिकूल प्रवाह मे बहकर भी, विशुद्ध धर्म और विशुद्ध अध्यात्म के अन्तर्गत मानने के लिए तैयार नही हुई। पुण्य कहकर तो उसने उक्त प्रवृत्तियो को श्रेय की ओर जाने वाले पथिक के लिए स्वर्ण-शृखलारूप बन्धन ही

१. साधू बिन जो अन्य प्रते, दीधा पुण्य जो होय।
तो गाय पुण्य किम नवि कह्यो, भैस पुण्य पिण जोय॥
सुवरण पुण्य रूपो पुण्य, हीरो पुण्य उदार।
मोती ने माणिक पुण्य, खेति पुण्य विचार॥
इत्यादिक मुनिवर भणी, नहीं कल्पे जे बोल।
सूत्र विषे ते नवि कह्या, देखोजी दिल खोल॥

प्रश्नोत्तर तत्त्वबोध दानाधिकार दुहा १५२ से ५४

२. समणोवासगस्सण भते! तहारूव असंजय अविरय-पडिहयपच्चक्खायपावकम्म फासुएण वा, अफासुएण वा, एसणिज्जेण वा, अणेसणिज्जेण वा, असण-पाणि० जाव कि कज्जइ? गोयमा! एगतसो से पावे कम्मे कज्जइ, नत्थि से कावि निज्जरा कज्जइ।

भगवतीसूत्र शतक ८ उ० ६

३ समणोवासगस्सण भते! तहारूव समणं वा माहण वा फासुएण वा, अफासुएण वा, एसणिज्जेण वा, अणेसणिज्जेण वा, असण-पाण-खाइम-साइमेणं पडिलाभेमाणस्स कि कज्जइ? गोयमा! एगतसो निज्जरा कज्जइ, नत्थि य से पावे कम्मे कज्जइ।

भगवती सूत्र शतक ८ उ० ६

माना।[1] यह किसी भी जन-शाखा ने नही माना कि ससारस्थ प्राणियो का भौतिक साधन-प्रसाधनो से दैहिक दु ख-मोचन कर व्यक्ति मोक्ष प्राप्त कर लेगा।

जैनाचार्यों द्वारा लोक-प्रवाह को मोड़

लोक-प्रवाह के साथ जैन-परम्पराए अवश्य चल पड़ी, किन्तु समय-समय पर चिन्तनशील आचार्य अपने उद्गारो मे तत्सम्बन्धी यथार्थ स्थिति को भी प्रकट करते रहे हैं। दिगम्बर आचार्य अमितगति कहते है "जो असयतात्मा को दान देकर पुण्यरूप फल की आकाक्षा करता है, वह जलती आग मे बीज फेककर धान पैदा करना चाहता है।"[2]

आचार्य हेमचन्द्र कहते हैं- "यह असि, मसि, कृषि आदि व्यवस्था का प्रवर्तन सावद्य सपाप है, फिर भी स्वामी ऋषभदेव ने अपना कर्तव्य जानकर इसका प्रवर्तन किया।"[3]

अभयदान की व्याख्या करते हुए कहा गया है मन से, वचन से और कर्म से जीव-हिंसा न करना, न कराना और न उसका अनुमोदन करना, जीवो के जीवन पर्याय का नाश न करना, उन्हे दु ख या सक्लेश न देना अभयदान है।[4]

माता-पिता की सेवा के सम्बन्ध से कहा गया है निश्चय नय की दृष्टि से माता-पिता आदि का विनय करने रूप सतताभ्यास मे सम्यग् दर्शन आदि की

१ शुद्धा योगा रे ! यदपि यताऽऽत्मना, स्रवन्ते शुभकर्माणि।
काचननिगडोस्तान्यपि जानीयाद्धतनिर्वृत्तिशर्माणि॥
शान्तसुधारस आस्रवभावना गाथा ७

२ वितीर्य यो दानमसयतात्मने, जन फल कांक्षति पुण्यलक्षणम्।
वितीर्य बीजं ज्वलिते स पावके, समीहते शस्यमपास्तदूषणम्॥
अमितगति श्रावकाचार ११वां परिच्छेद

३. एतच्च सर्वं सावद्यमपि लोकानुकम्पया।
स्वामी प्रवर्तयामास, जानन् कर्तव्यमात्मन.॥
त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्रम्, १।२।९७१

४. भवत्यभयदान तु जीवाना वधवर्जनम्।
मनोवाक्कायै करण-कारणानुमतैरपि॥
तत्पर्यायक्षयाद् दु खोत्पादात् सक्लेशतस्त्रिधा।
वधस्य वर्जन तेऽवभयदान तदुच्यते॥
ऋषभ चरित्र १५७-१६९

आराधना नहीं होती, इसलिए वह धर्म का अनुष्ठान नहीं है। व्यवहार नय, स्थूल दृष्टि या लोक दृष्टि से वह युक्त है।[1]

लोकाशाह द्वारा मोक्षाभिमुख अहिंसा पर बल

इस प्रकार समय-समय पर होने वाले स्फुट उद्गारों से वह लोकाभिमुख प्रवाह जरा भी रुका हो, ऐसा नहीं लगता, प्रत्युत प्रकाश की ये चिनगारियां क्षणिक आभास के साथ विलीन ही होती गई। अब से लगभग चार सौ वर्ष पूर्व और वीर निर्वाण के लगभग इक्कीस सौ वर्ष पश्चात् जैन-परम्परा में लोकाशाह ने फिर से मोक्षाभिमुख अहिंसा और धर्म का उद्घोष उठाया। आगमिक आधारों पर उन्होंने स्पष्टरूप से कहा—साता देने से साता होती है, ऐसा कहने वाले आर्य-मार्ग से पृथक् हैं, समाधि-मार्ग से दूर हैं, जिन-मार्ग की निन्दा करने वाले हैं, अमोक्ष के कारण हैं, तुच्छ सुखों के लिए बहुत सुखों को गमाने वाले हैं और भविष्य में लोह वणिक् की तरह पश्चाताप करने वाले होंगे।[2]

जिस क्रिया में किंचित भी हिंसा नहीं है, वही ज्ञान का सार है।[3] इन्द्रिय-भोगों का धर्म बुरा होता है। जिस प्रकार तालपुट जहर खा लेने से, अविधि से शस्त्र-ग्रहण करने से, कुविधि से मन्त्र-जाप करने से मनुष्य मृत्यु-प्राप्त करता है, वैसे ही इन्द्रियज विषयों को धर्म कहने वाला जन्म और मृत्यु के परिभ्रमण को बढ़ाता है।[4]

१. निश्चयनययोगेन, निश्चयनयाभिप्रायेण यतो मातापित्रादि विनयस्वभावे संतताभ्यासे सम्यक्-दर्शनाऽऽद्यनाऽऽराधनारूपे धर्मानुष्ठानं दूरापास्तमेव।
धर्म अधिकरण

२. कोई इम कहे साता दियां साता होय, तिण ऊपर भगवान छव बोल प्ररूप्या १. आर्य-मार्ग से वेगलो, २. समाधि-मार्ग से न्यारो, ३. जिन धर्म री हेलणा रो करणहार, ४ अमोक्ष रो कारण, ५ थोड़ा सुखां रे कारणे घणा सुखा रो हारणहार, ६. लोह वाणिया नी परे घणो झूरसी। सा० सू० सूयगडांग अ० ३ उद्देशो ४ गाथा ६।
लोंकेजी की हुण्डी बोल ४७वां

३ जिस करणी में किंचित मात्र हिंसा नहीं ते करणी ज्ञान री सार कही। सा० सू० प्र० सूयगडांग अध्ययन १ उ० ४ गाथा १०वीं।
लोंकेजी की हुण्डी बोल २२वां

४ विषय सहित धर्म बुरो, जिम तालपुट जहर खाया, कुरीति से हाथ में शस्त्र लियां, कुविधि मन्त्र जपियां मरण पामें, तिम इन्द्रिय-विषय

उनहत्तर बोलों की लोकाशाह की हुण्डी जिसमें हरएक बोल के साथ आगम-पाठ का प्रमाण दिया गया है, उनकी मान्यता का आधार बनती है। लोकाशाह की मान्यता के आधार पर नूतन श्रमण-संघ गठित हुआ और अध्यात्मपरायण धारणाओं को सुस्थिर करने के लिए लोक-प्रवाह के सामने खड़ा रहा, किन्तु यह क्रान्ति चिरस्थायी नहीं हो सकी और अनुयायी शाखाएं उसी लोक-प्रवाह में जा पड़ी। यह विशेषता की बात है, लोकाशाह तीनों ही श्वेताम्बर सम्प्रदायों में आदर की दृष्टि से देखे जाते हैं और उनके मत को अपने-अपने प्रकारों से किसी-न-किसी सीमा तक अवश्य मानते हैं।

अहिंसा-स्वरूप का विकास या विपर्यास ?

साहित्य में रागात्मक तत्वों का आविर्भाव

उपनिषदों, आगमों एवं त्रिपिटकों की निवृत्तिप्रधान और मोक्षाभिमुख मौलिक धारणाओं से होने वाला यह विपर्यास इतना स्पष्ट था कि उससे सभी क्षेत्र प्रभावित हुए। इसका प्रभाव धर्म और दर्शन के क्षेत्र में ही न रहकर साहित्य के क्षेत्र में भी आया और रागात्मक तत्वों के आविर्भाव से साहित्य-उपवन सरस समझा जाने लगा। हिन्दी-साहित्य के विकास-क्रम में बताया गया है इस प्रकार पन्द्रहवीं शताब्दी के आरम्भ में हिन्दी-साहित्य में उस परम्परा का प्रादुर्भाव हुआ, जिसमें वैयक्तिक साधना का लोककल्याणकारी वृत्तियों के साथ सुन्दर सामजस्य हुआ। अभी तक हिन्दी का साहित्य अधिकांशत प्रशस्तिगान तथा परम्परागत काव्य-रूढियों पर ही आधारित था, परन्तु सन्त परम्परा के उद्भव से साहित्य में एक नये लक्ष्य व नये जीवन-दर्शन की अभिव्यक्ति हुई।

कर्म के साथ ज्ञान का सामजस्य करने के लिए वेदान्त का सहारा लिया गया।[1] लोकोत्तर-प्रधान धर्म में लौकिक-चिन्ता का उद्भव मानव-स्वभाव के किन रागात्मक हेतुओं से हुआ, इसका भी व्यवस्थित चिन्तन हिन्दी साहित्य के इतिहास में मिलता है। "ज्ञान तथा योग के नीरस उपदेशात्मक कथन, शून्य में व्याप्त अमूर्त ब्रह्म तथा हठयोग द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त यद्यपि जनता की प्रवृत्तियों को भौतिक संघर्ष से हटाकर आध्यात्मिकता की ओर उन्मुख करने में सर्वथा

सहित धर्म प्ररूपे ते घणा जन्म मरण वधावे। सा० सू० उत्तराध्ययन अ० २० गाथा ४४

लोंकेजी की हुण्डी बोल ३६वां

१ भारतीय वाड्मय पृ० ५४२

अनुकूल नहीं रहे, पर जीवन के कठोर सत्यों के बीच उन अमूर्त और जीवन से असम्बद्ध सिद्धान्तों पर निर्भर रहना कठिन ही नहीं, असम्भव था। निर्गुण-साधना की कठोरता में जनता को अपनी विषमताओं का समाधान नहीं मिल सका, क्योंकि उसमें जीवन के आधारभूत तत्त्वों का निषेध अथवा अभाव था। निर्गुण पन्थी सन्तों ने भौतिक जीवन के नैराश्य का समाधान इन्द्रियों के दमन और कामनाओं के हनन में पाने का प्रयास किया, पर जनता तो ऐसा आश्रय प्राप्त करना चाहती थी जहाँ वह अपने मन का अवसाद उडेल सके, जिसके चरणों में सर्वस्व समर्पित कर अपने भौतिक जीवन के अभिशाप को वरदान में परिणत कर सके। अनुराग मानव हृदय का प्रबल पक्ष है। अनुराग और ज्ञानमूलक-साधना का सामजस्य हो सकता है, पर तादात्म्य नहीं। निर्गुण पन्थी सन्तों ने हृदय के अनुराग का पूरक मस्तिष्कजन्य साधना को बनाना चाहा और यहीं वे असफल रहे। सगुण मतवादी भक्तों ने मन की वृत्तियों को जो लौकिक जीवन में अतृप्त रहने के कारण विक्षिप्त हो रही थीं, राम और कृष्ण के रूप का वह आधार प्रदान किया, जिनके द्वारा भौतिक विषयों की भोक्ता इन्द्रियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति निष्कामरूप में भगवान् में लग गई। एक ओर मर्यादापुरुष राम के चरित्र में अनेक आदर्शों की स्थापना की गई और दूसरी ओर लीलापुरुष कृष्ण के मनोरंजक रूप का अंकन किया गया।"[1]

साहित्य से राष्ट्रीय जागृति के क्षेत्र में

अहिंसा और धर्म के इस स्वरूप विपर्यय का अन्यान्य क्षेत्रों में भी स्वागत हुआ। राष्ट्रीय जागृति के साथ वह और भी बल पा गया। राष्ट्र और समाज के नवनिर्माण की चहल-पहल में सहयोगी होकर वही विपर्यय विकास का खिताब पा गया। महात्मा गांधी विशेष रूप से श्रेयोभाग् बने। प्रज्ञाचक्षु प० सुखलालजी का कहना है गांधीजी पर कुछ लोगों का यह आक्षेप एक तरह से गलत नहीं है कि उन्होंने भारतीय समाज को निवृत्ति-मार्ग से विमुख कर संसार के प्रति आसक्त कर दिया। लेकिन सचाई यह है कि समाज में अहिंसा उतने ही प्रमाण में टिक सकती है, जितने प्रमाण में प्रवर्तक धर्म अर्थात् समाजोपयोगी काम चलेंगे। निवर्तक धर्म से समाज की बुराइयाँ दूर की जा सकती हैं, परन्तु उनमें अच्छाइयों की वृद्धि नहीं हो सकती। गांधीजी ने त्याग, तपस्या और बलिदान रूप निवर्तक धर्म के साथ-साथ प्रवृत्तिरूप अहिंसा का भी प्रतिपादन किया और उसी के द्वारा

१. भारतीय वाङ्मय पृ० ५४७

राष्ट्र की समस्याओं का हल किया। अनासक्तिमूलक प्रवृत्ति-निवृत्ति ही अहिंसा के विकास का अब तक का सर्वश्रेष्ठ रूप प्रतीत होता है। गांधीजी के आदर्श को लेकर चलने वाले आश्रम में निवृत्तिरूप अहिंसा के साथ प्रवृत्ति भी जुडी हुई मिलती है। अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह आदि निवृत्तिमार्गीय व्रतों के साथ-साथ खेती, खादी आदि के प्रवृत्ति-कार्य भी वहा चलते हैं।[1]

खेती[2] और खादी[3] के सम्बन्ध से होने वाली हिंसा को महात्मा गाधी ने कभी अहिंसा की कोटि मे नही लिया। कितने ही पुनीत उद्देश्य से किसान खेती करे, महात्मा गाधी की दृष्टि से उसमे सामाजिक स्वार्थ तो अन्तर्निहित है ही। हमे यहा इस चर्चा मे नही उतरना है कि महात्मा गाधी ने कही हिंसा को अहिंसा और धर्म के अन्तर्गत माना है या नही। उनकी अहिंसा सम्बन्धी परिभाषा है अहिंसा के माने सूक्ष्म जन्तुओ से लेकर मनुष्य तक सभी जीवो के प्रति समभाव।[4] उनकी निष्ठा है—हिंसा तीनो कालो मे हिंसा ही रहेगी।[5] अत यह प्रश्न बहुत विचारणीय है कि महात्मा गाधी की दृष्टि मे हिंसा के साथ व्यापक प्रेम और अनासक्ति का मेल कहा तक बैठ सकता है ? कुछ भी हो उक्त विवरणो से यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि अहिंसा और निवृत्ति-प्रधान धर्म का यह विपर्यय विविध क्षेत्रो मे एक विकास के रूप मे ही देखा गया है।

उपयोगिता के साथ यथार्थता का निर्वाह अपेक्षित

अपेक्षा-भेद से यह माना जा सकता है लौकिक प्रवृत्तियो को आध्यात्मिक रूप मिल जाने से दया, दान आदि लोकोपकार मे समाज विशेषरूप से प्रवृत्त हुआ। दीन, अनाथ अपागो के जीवन-निर्वाह का मार्ग खुला। मोह-ममता बढने से सामाजिक जीवन सरस हुआ, पर देखना यह है कि उपयोगिताओ के साथ

१. अहिंसा के आचार और विचार का विकास पृ० ९–१०

२. खेडूत जे अनिवार्य नाश करे छे तेने हू अहिंसा मा कदी गणावेल नथी। ए वध अनिवार्य होई भले क्षम्य गणाय, पण ते अहिंसा तो नथी ज। खेडूतनी हिंसामां समाजनो स्वार्थ रहेलो छे। अहिंसामां स्वार्थने स्थान नथी।
अहिंसा पृ० १३६

३ खादी पर प्रक्रियाएं कम होती हैं, इसलिए उसमें हिंसा कम है।
गाधीजी—खण्ड १० अहिंसा प्रथम भाग पृ० १७

४. मंगल प्रभात पृ० ८१

५ अहिंसा पृ० २०–२१

यथार्थता का निर्वाह हुआ या नही ? किसी धर्म का उपयोगी हो जाना एक बात है और यथार्थ होना दूसरी बात। धर्म और अहिंसा का सम्बन्ध दार्शनिक मान्यताओ पर आधारित है। दर्शन के क्षेत्र मे आत्मा, पुण्य, पाप और मोक्ष सम्बन्धी धारणाए ज्यो की त्यो बनी रहे और धर्म के स्वरूप को सामाजिक उपयोगिता के लिए चाहे ज्यो विस्तृत करते रहे, यह सगत नही हो सकता। भारतीय दर्शनो ने यह मान लिया होता कि जगत के प्रत्यक्ष स्वरूप की अपेक्षा ही इष्ट और काम्य है तो फिर भी समाज की लोकोत्तर विमुखता यथार्थ मानी जा सकती थी। लगभग सभी भारतीय दर्शनो ने जीवन का परम लक्ष्य निर्वाण माना है, भले ही उसके बाह्य स्वरूप मे विभिन्नता रही हो। उसके हार्द मे लगभग सभी दर्शन एकमत हैं। वह जीवन का परम लक्ष्य होता है। वहा आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप मे पहुचती है। भव-परम्परा के बीज राग और द्वेष वहा नही रह जाते। महायान सम्प्रदाय प्रभृति कुछ एक विचार-परम्पराओ को छोडकर लगभग सभी दर्शन परम्पराए इसमे सहमत हैं कि मोक्ष और मोक्ष के उपाय व्यक्तिगत हैं। पिता, पुत्र, समाज, राष्ट्र और विश्व के एक साथ मोक्ष-गमन की चर्चा कही नही है। व्यक्ति-व्यक्ति ही अपनी अनवद्य साधना से कर्म-मल रहित होकर मोक्ष पहुचते हैं। ऐसी परिस्थिति मे धर्म और अहिंसा के आधारभूत दर्शन की उपेक्षा कर समाज को एकान्तरूप से लोकाभिमुख ही बनाने का विचार कैसे यथार्थ माना जा सकता है और यह निर्हेतुक विपर्यास कैसे अहिंसा धर्म का विकास ही माना जा सकता है।

अहिंसा और धर्म का प्रयोजन

हमे यह भी भूलना नही चाहिए कि अहिंसा और धर्म का परम उद्देश्य व्यक्ति को उसकी मजिल तक पहुचाने का है। यह ठीक है कि अहिंसा और धर्म के व्यापक बहुमुखी प्रभावो मे वर्तमान जीवन भी अलौकिक होता है। समाज-व्यवस्थाए और अन्य विश्वोपक्रम सुसम्पन्न होते है, यह उनका गौण परिणाम ही होता है। अहिंसा प्राणीमात्र की जिजीविषा के लिए कही जाती है। भगवान् श्री महावीर के सूक्तो मे भी यह बात बहुत प्रकारो से दुहराई गई है। प्राणीमात्र जीना चाहते हैं, इसलिए निर्ग्रन्थ उनकी हिंसा न करें। वास्तव मे यह एक उपदेश-विधि ही है। इस स्थूलता के नीचे अहिंसा का स्वरूप और प्रयोजन तो इस प्रकार है

आत्मा मे रागादि भावो का अप्रादुर्भाव ही अहिंसा है और उन रागादि भावो का प्रादुर्भाव ही हिंसा है।[1]

१. अप्रादुर्भाव. खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।

सयत मुनि के रागादि आवेश रहित आचरण से किसी प्राणी का प्राण-व्यपरोपण हो जाने पर भी वह हिंसा नही है।[1]

रागादि आवेशो के वश होने वाले असयत आचरण से किसी जीव का प्राण-व्यपरोपण हो अथवा न भी हो, उस व्यक्ति के लिए तो वह निश्चितरूप से हिंसा है ही।[2]

तत्त्वार्थ यह है, व्यक्ति कषायज भावो से लिप्त होकर हिंसा करता हुआ सर्वप्रथम अपनी आत्मा से अपनी ही आत्मा की हिंसा करता है। अन्य प्राणियो की हिंसा हो या न हो, यह तो आगे की बात है।[3]

योगो की प्रमत्तता के कारण हिंसा से विरक्त न होना और हिंसा करना दोनो ही हिंसा के अन्तर्गत है।[4]

सूक्ष्मातिसूक्ष्म हिंसा भी परनिमित्तक नही होती, तथापि परिणामो की विशुद्धि के लिए प्राण-व्यपरोपणादि हिंसायतनो से व्यक्ति को निवृत्त होना चाहिए।[5]

इसी प्रकार जब व्यक्ति अपने द्वारा या अन्य किसी द्वारा होने वाली हिंसा को बचाने के लिए आत्मोपदेश या परोपदेश मे प्रवृत्त होता है, हिंसा टले या न टले,

तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेप ॥

पुरुषार्थ सिद्धयुपाय ४४

१. युक्ताचरणस्य सतो, रागाद्यावेशमन्तरेणापि।
न हि भवति जातु हिंसा, प्राणव्यपरोपणादेव ॥

पुरुषार्थ सिद्धयुपाय ४५

२. व्युत्थानावस्थायां रागादीना वशप्रवृत्तायाम्।
म्रियतां जीवो मा वा धावत्यग्रे ध्रुव हिंसा ॥

पुरुषार्थ सिद्धयुपाय ४६

३. यस्मात्सकषाय: सन् हन्त्यात्मा प्रथममात्मनात्मानम्।
पश्चाज्जायेत न वा हिंसा प्राण्यन्तराणां तु ॥

पुरुषार्थ सिद्धयुपाय ४७

४. हिंसायामविरमण हिंसापरिणमनमपि भवति हिंसा।
तस्मात्प्रमत्तयोगे प्राणव्यपरोपण नित्यम् ॥

पुरुषार्थ सिद्धयुपाय ४८

५ सूक्ष्मापि न खलु हिंसा परवस्तुनिबन्धना भवति पुंस.।
हिंसायतननिवृत्ति परिणामविशुद्धये तदपि कार्या ॥

पुरुषार्थ सिद्धयुपाय ४९

वह अपनी सत्प्रवृत्ति के कारण अहिंसा व अनुकम्पा का ही आचरण करता है। अस्तु, अहिंसा का पारमार्थिक लक्ष्य आत्म-शुद्धि और उसका मार्ग कषाय-विजिगीषा है।

क्रान्तदर्शी आचार्य श्री भिक्षु

भगवान् श्री महावीर के लगभग तेईससौ वर्ष पश्चात् अहिंसा के क्षेत्र में क्रान्तदर्शी आचार्य श्री भिक्षु का अमिट चरण-विन्यास हुआ। दो सहस्राब्दियों के इतिहास में अहिंसा का वह अपूर्व परिच्छेद बना। अहिंसा जहां लोकैषणाप्रधान तत्त्वों के आघात-प्रघातों में जर्जरित हो उठी थी, उसे पूर्ण पुनरुज्जीवन मिला। बौद्ध वाङ्मय की शैली में आचार्य भिक्षु का वह उपक्रम "जैसे उलटे को सीधा कर दे, ढके को उभार दे, भटके को राह दिखा दे, अन्धियारे में दीप जला दे,"[1] की शब्द गरिमा से श्लाघनीय था। धर्म-संरक्षण के नाम पर, जीवन की अनिवार्यता के नाम पर, मानव-श्रेष्ठता के नाम पर, दया, दान और लोक-सेवा के नाम पर अहिंसा हिंसा के द्वारा, त्याग भोग के द्वारा, निवृत्ति-प्रवृत्ति के द्वारा निगली जा रही थी। महाप्राण आचार्य भिक्षु ने प्रतिस्रोत में अपने चरण थाम कर सचमुच ही गेहूं और कंकरों को, दूध और पानी को अपनी हंस-मनीषा से पृथक्-पृथक् कर दिया था। उनकी सफलताएं उनके साथ ही विलीन नहीं हुई थी। उनका वह तेरापंथ प्रतिष्ठान लाखों-लाखों लोगों द्वारा आज भी पूजित हो रहा है। भविष्य की सहस्राब्दियों में भी यह अमृत-प्रवाह बहता रहेगा, यह आशा है।

आचार्य भिक्षु अहिंसा की एक प्रतिमूर्ति थे। उनके विचारों में अहिंसा थी, उनकी वाणी में अहिंसा थी और उनके आचरण में अहिंसा थी। वे अहिंसा के गूढ विचारक थे, अनुपम उपदेशक थे और अनन्य उपासक थे। शास्त्रों के विलोडन और अपनी प्रतिभा के प्रस्फोटन से अहिंसा का जो नवनीत उन्हें मिला, स्वयं उन्होंने खाया, जी भर दूसरों को खिलाया और आने वाली सन्तति के लिए उसे ग्रन्थ-मंजूषाओं में संजोकर रखा।

निष्ठा और परिभाषा

उनके हृदय में अहिंसा की अपार निष्ठा थी। वे अहिंसा के अखण्ड और विशुद्ध रूप में विश्वास रखते थे। उनका कहना था अन्य वस्तुएं परस्पर मिल सकती हैं, परन्तु अहिंसा (दया) में हिंसा नहीं मिल सकती। पूर्व और पश्चिम के

१. संयुत्तनिकाय दहर सुत्त ३-१-१

रास्ते कभी एक नही हो सकते।[1] धर्म की नीव अहिंसा (दया) के ऊपर है। हिंसा-प्रवृत्ति से धर्म होगा तो जल-मन्थन से भी घृत का आविर्भाव हो जाएगा।[2] धूप और छाया की तरह हिंसा और दया की उपादान क्रियाए भी अत्यन्त भिन्न होगी।[3] रक्त मे सश्लिष्ट पीताम्बर रक्त-प्रक्षालन से शुद्ध नही होता तो हिंसा-प्रवृत्ति से मलिन हुई आत्मा, हिंसा-धर्म से ही कैसे शुद्ध होगी?[4] सूई के धागा पिरोने के छिद्र मे कोई मोटा रस्सा पिरोने बैठे तो वह आगे कैसे चलेगा? त्यो हिंसा मे परूपा गया धर्म गले कैसे उतरेगा?[5] सर्वभूत क्षेमकरी अहिंसा अल्प जीवो के लिए या बहुत जीवो के लिए नही, वह समस्त जीवो के लिए है। षट्कायिक जीवो को मन, वचन और शरीर से न हनन करना, न हनन करवाना और न हनन करते हुए का अनुमोदन करना अहिंसा है।[6]

धर्म की कसौटी आज्ञा और संयम

श्रद्धा के बिना जीवन एकनिष्ठ नही बनता और एकनिष्ठ बने बिना सिद्धि

१ और बसत में भेल हुवे पिण, दया में नहीं हिंसा रो भेलो जी।
ज्यू पूर्व ने पिछम रो मारग, किण विध खाये मेलो जी॥
अनुकम्पा चौपाई ढाल ६ गाथा ७१

२. जिण मारग री नींव दया पर, खोजी हुवे ते पावे जी।
जो हिंसा माहे धर्म हुवे तो, जल मथीया घी आवे जी॥
- अनुकम्पा चौपई ढाल ६ गाथा ७४

३ हिंसा री करणी में दया नहीं छै, दया री करणी में हिंसा नाही जी।
दया ने हिंसा री करणी छै न्यारी, ज्यू तावडो ने छाही जी॥
अनुकम्पा री चौपई ढाल ६ गाथा ७०

४. लोही खरड्यो जो पितम्बर, लोही सू केम धोवायो रे।
तिम हिंसा में धर्म कियां थी, जीव उजलो किम थायो रे॥
विरत इविरत की चौपई ढाल १ गाथा ३६

५. सूई नाके सिंघर पोवे, कहो किम आगे पेसे।
ज्यू हिंसा माहे धर्म परूपे, तै सालोसाल न बेसे रे॥
आचार री चौपई ढाल ६ गाथा २८

६. छ काय हणावै नहीं, हणीयां भलो न जाणे ताय।
मन वचन काया करी, आ दया कही जिणराय॥
अनुकम्पा री चौपई ढाल ८ दोहा ३

नहीं मिलती। तर्क सत्यावाप्ति का एक साधन है, पर बुद्धि की तरतमता में उसका कोई एक रूप स्थिर नहीं होता। इसीलिए कर्मयोगी कृष्ण ने कहा है 'मामेकं शरणं व्रज मेरा ही शरण ग्रहण करें'।[1] गौतम बुद्ध ने कहा 'यदि कोई किसी को सचमुच सम्यग् कहे, तो वह मुझको ही कह सकता है। मैंने ही उस अनुत्तर पूर्ण बुद्धत्व का साक्षात्कार किया है।[2] भगवान श्री महावीर की शालीन भाषा थी, 'आणाए मामगो धम्मो' आज्ञा में ही मेरा धर्म है'।[3] आचार्य श्री भिक्षु भगवान श्री महावीर के अनुयायी थे। उन्होंने उस आदेश को श्रद्धापूर्वक शिरोधार्य किया और साथ-ही-साथ तर्क और युक्ति पर भी कसा। फलित रहा भगवान् की आज्ञा वहा है, जहा सयम और सत् प्रवृत्ति की वृद्धि है।[4] ज्ञान, दर्शन, चरित्र और तप का सरक्षण है।[5] असयम और असत् प्रवृत्ति के लिए भगवान् का कहीं इंगित नहीं है। भगवान् की आज्ञा वहा है, जहा ध्यान, लेश्या, परिणाम, योग और अध्यवसाय प्रशस्त हैं।[6] भगवान् की आज्ञा वहा है, जहा धर्मध्यान और शुक्लध्यान की ज्योति[7] जलती है, व्रत-बीज अकुरित, पुष्पित और फलित होता है। स्वार्थ मिटता है और परमार्थ जुटता है।

१ गीता अध्याय १८ श्लोक ६६

२. संयुत्तनिकाय दहर सुत्त ३।१।१

३ आचारांग सूत्र अध्ययन ६ उ० २

४. सर्व मूल गुण उत्तर गुण, देस मूल उत्तर गुण दोय रे।
या दोनूं गुणा में जिण आगना, आगना बारै गुण नहीं कोय रे॥
जिनाज्ञा री चौपई ढाल १ गा० १८

५. ग्यांन दर्शण चारित नें तप, ए तो मोख रा मारग च्यार रे।
या च्यारां में जिणजी री आगना, यां विना नहीं धर्म लिगार रे॥
जिनाज्ञा री चौपई ढाल १ गा० २

६. नंदी उत्तरें त्यारो ध्यान कीसो छैं, किसी लेश्या किसा परिणाम रे।
जोग किसा अवसाय किसा छैं, भला भूंडां री करो पिछाण रे॥
ए पांचूं भला छै तो जिण आगना छैं, माठा में जिण आग्या न कोय रे।
ए पांचू माठा सूं पाप लागै छैं, भला सूं पाप न होय रे॥
जिनाज्ञा री चौपई ढाल ३ गा० १९-२०

७. धर्म ने सुकल दोनूं ध्यान में, जिण आग्या दीधी वारंवार रे।
आरत रूद्र ध्यान माठा बेहूं, यानें ध्यावैं ते आग्या बार रे॥
जिनाज्ञा री चौपई ढाल १ गा० १२

भगवान् की आज्ञा वहा है जहा सावद्य कर्म टलता है, निरवद्य कर्म पलता है।[1] ऐसा एक भी कार्य नही है जो धर्म और अहिंसारूप हो और वह आज्ञा-सम्मत न हो। न ऐसा ही कोई कार्य अवशेष रह जाता है, जो आज्ञा-सम्मत हो और अहिंसा व सयम प्रधान न हो। इस प्रकार आज्ञा और तर्क को अपनी बुद्धि के तराजू पर तोल कर आचार्य भिक्षु ने अहिंसा और धर्म की कसौटी आज्ञा और सयम को कहा। आगमवादियो से वे कहते, जो व्यक्ति यह कहता है, यह धर्म है, पर आज्ञा सम्मत नही है, वह सचमुच ही कहता है मैं पुत्र हू पर मेरी माता वन्ध्या[2] है। वे तर्कनिष्ठ लोगो से वतलाते असयति जीवो की जीवन-कामना राग है, मरण-कामना द्वेष है और उनके लिए की गई भव-तितीर्षा धर्म है।[3]

अविभक्त अहिंसा

अहिंसा सम्बन्धी सभी शास्त्रो मे अहिंसा की परिभाषा लगभग समान ही मिलती है। ज्यो-ज्यो वह जीवन के व्यवहारिक प्रसगो पर उतारी जाती है, वहा वह परिभाषा विभक्त होती देखी जाती है। प्रवर्तक व विचारक उन परिभाषाओ को तोड-मोडकर वर्तमान जीवन के साथ सगत करते हैं। जैन-शास्त्र कहते हैं, साधु अपने सयम निर्वाह के लिए अचित्त, प्रासुक और एषणीय आहार ग्रहण करे। आवश्यक निर्युक्ति मे वताया जाता है—साधु रोगादि विशेष परिस्थिति मे सचित्त पृथ्वी, पानी, वनस्पति आदि का उपयोग करे। अचित्त की अनुपलब्धि मे वह सचित्त पृथ्वी, पानी, वनस्पति आदि गृहस्थ के यहा से लाए, वहा न मिले तो वह खान, सरोवर, अटवी आदि स्थानो मे जहा सुलभ हो वहा से लाए।[4] रोगादि प्रसगो से तथा सघ-सरक्षण, चैत्य-रक्षण आदि प्रसगो से वैध मानी गई हिंसा के

१ दोय करणी ससार में, सावद निरवद जाण।
निरवद करणी में आगन्यां, तिणसूं पामें पद निरवाण॥
विरत इविरतरी चौपाई ढाल १२ दु० २

२ कोई कहे माहरी मा तो छे वाझडी, तिणरो हूं छूं आतम जात।
ज्यूं मूर्ख कहे जिण आगना विना, करणी कीधा धम साख्यात॥
विरत इविरतरी चौपाई ढाल २ गा० ११

३ असंयति जीव रो जीवणो वाछै ते राग, मरणो वाछै ते धेष, तिरणो वाछै ते वीतराग प्रभु रो मारग छै।
जयाचार्य कृत हाजरी

४, आवश्यक निर्युक्ति, परिष्ठापना समिति

और भी अनेकों रोम-हर्षक उदन्त पिछले प्रकरणों में बताए जा चुके हैं। इस सम्बन्ध में आचार्य भिक्षु का दृष्टिकोण दृढ और न्यायोचित रहा है। उनका अभिप्राय था राग और द्वेष से मुक्त तीर्थंकर द्रव्य हिंसा, भाव हिंसा आदि का उल्लेख करते हैं, वह उनके अधिकार की बात है। राग-द्वेष मुक्त सर्वज्ञों की तरह साधारण छद्मस्थ भी यदि अहिंसा धर्म मे अपवाद जोडते चले तो वह न्याय नही है। अवीतराग के निर्णय में राग और द्वेष की स्फुरणा सम्भावित है, अत उनका इस ओर प्रवृत्त होना सगत नही। एक के बाद एक अपवाद जोड़े जाकर अहिंसा मिट ही जा सकती है।

आचार्य भिक्षु का यह क्रान्तिकारी घोष था, टीका, भाष्य, चूर्णिया आदि स्वत प्रमाण नही है। जैसे उन्होने अन्य आचार्यों द्वारा विहित अपवादो को हेय बताया, वे स्वय भी अपनी धारणा पर अत्यन्त सुदृढ रहे। उन्होने एक धर्म-सघ का प्रवर्तन किया। सहस्रो प्रश्न और परिस्थितिया उनके सामने आती रही, तथापि एक भी अपवाद जोडकर उन्होने अहिंसा को विभक्त नही किया। दया, दान, लोकोपकार, सदाचार आदि की जो व्याख्याए उन्होने दी, उनमे अहिंसा और संयम को सर्वत्र अविभक्त बनाए रखा। छद्मस्थ-अवस्था मे भगवान् श्री महावीर ने शीतल तेजोलेश्या का प्रयोग कर गोशालक को बचाया। आचार्य भिक्षु ने कहा यह अवीतराग दशा की भूल थी।[1] लोकमत प्रतिकूल हुआ। दया के उत्थापक, दान के विध्वसक के खिताब मिले, पर उन्होने हिंसा के हाथो अहिंसा को नही जाने दिया। उनका विश्वास था मेरा उपास्य अहिंसा है न कि लोक-समुदाय।

परम कारुणिक

स्थूल मेधावालो की धारणा मे आचार्य भिक्षु जितने करुणा-शून्य थे, तत्त्वदर्शियो की दृष्टि मे वे उतने ही अधिक कारुणिक थे। धनी और निर्धन, बलवान् और निर्बल, स्थावर और जगम उनकी दृष्टि मे समान थे। एक के लिए दूसरे का बलिदान उन्हे स्वीकार नही था। वे प्राणीमात्र की समानता मे विश्वास रखते थे। मनुष्य ससार की सर्वश्रेष्ठ कृति है, उसकी अपेक्षाओ के लिए अन्य प्राणियो का विनाश आध्यात्मिक नही माना जा सकता। यही बात स्थावरो का प्राण-

१ तिणनें वीर बचायो बलतो जाण नें रे, लबद फोडवे सीतल लेस्या मूक रे।
राग आयो तिण पापी ऊपरं रे, छदमस्थ गया तिण काले चूक रे॥
अनुकम्पा चौपई गीति १० गाथा ७

भी लोक धर्म कहते हैं, यह आश्चर्य है।[1] आचार्य भिक्षु के मन में निर्बल जीवों के प्रति होने वाली इस निर्ममता के प्रति एक करुणा है। वे कहते हैं निर्बल स्थावर प्राणियों को मारकर सबल जंगम प्राणियों का पोषण करते हैं और उसमें धर्म कहते हैं, सचमुच ही यह विपरीत बात है। ऐसे लोग बेचारे स्थावर जीवों के लिए शत्रु खडे हुए हैं।[2] जीवों को मारकर जीवों का पोषण करना सासारिक मार्ग है। इसमें धर्म बतानेवाले अज्ञ हैं।[3]

आचार्य भिक्षु ने स्थावर जीवों के प्रति अहिंसा का विवेक दिया। वे यह जानते थे, सामाजिक प्राणी का जीवन हिंसा के साथ जकडा हुआ है और वे इस हिंसा से बहुत अधिक ऊपर नहीं उठ सकते। आचार्य भिक्षु के मन में दो प्रेरणाए बलवती थी स्थावर जीवों को साधारण या नगण्य समझकर मारा ही न जाए, श्रावक भी अपने सद्विवेक से यथासम्भव उनके प्रति अहिंसक बनें। दूसरी प्रेरणा व्यक्तिगत या सामाजिक अपेक्षाओं से उनकी हिंसा भी की जाए और धर्म भी माना जाए, यह उचित नहीं।

सामाजिक जीवन की अपेक्षा से

सामाजिक जीवन की अपेक्षाओं में आचार्य भिक्षु का विवेक पूर्ण जागरूक था। अपने बारह व्रत की चौपई में वे श्रावक की भाषा में बोलते हैं मैं गृहस्थाश्रम में बसता हू। नाना कार्यों में स्थावर जीवों की हिंसा होती ही रहती है। आरम्भ किए बिना उदर नहीं भरता और आरम्भ में हिंसा हुए बिना नहीं रहती। इसलिए स्थावर जीवों की हिंसा का यथाशक्य परिमाण करता हू। जंगम प्राणियों के विषय में निरपराध प्राणी की हिंसा का त्याग करूगा, अपराधी प्राणी की हिंसा का नहीं। मैं खेती करते हुए हल चलाता हू, जमीन पोली करता हू, घास आदि काटता हू, निरपराध जीव भी उसमें मरते हैं। अत निरपराध जीवों को भी मैं

१. मछ गलागल लोक में, सबला ते निबलां ने खाय।
तिण में धर्म परूपीयो, कुगुरा कुबुध चलाय॥
अनुकम्पा चौपई गीति ७ दोहा १

२. राका ने मार धींगाने पोषे, आ तो बात दीसै घणी गेरी।
ईण माहीं दुष्टी धर्म परूपै, तो राक जीवांरा उठ्या वेरी॥
ज्ञानप्रकाश पृ० ६८

३ जीवां ने मारे जीवा ने पोषै, ते तो मारग संसार नो जाणो जी।
तिण माहें साध धर्म बतावै, ते तो पूरा छै मूढ अयाणो जी॥
अनुकम्पा चौपई गीति ६ गाथा २५

संकल्परूप से मारने का ही त्याग करता हूं।[1]

स्थावर-अहिंसा का विवेक

आचार्य भिक्षु ने स्थावर अहिंसा पर जो विवेक दिया वह अवश्य निराला है। उनके अहिंसा-चिन्तन का वह एक प्रमुख भाग कहा जा सकता है। धर्म-अधर्म, हिंसा-अहिंसा के निरूपण मे उन्होने स्थावर जीवो को कही भुलाया नही है। महात्मा गाधी के अहिंसा-चिन्तन मे भी स्थावर जीवो के अस्तित्व और अहिंसा-विवेक की एक झाकी मिलती है इसमे कोई सन्देह नही है कि वनस्पति मे भी प्राण है, परन्तु वनस्पति का उपयोग किए विना भी हम नही रह सकते। यह जीवन के नाश मे किसी तरह कम नही है।[2] अग्नि को प्रगट करने मे हिंसा होती है। फिर उस अग्नि मे सूखी या हरी वस्तु का होम करना विशेष हिंसा है।[3] जिस तरह मनुष्य ईश्वर की कृति है उसी तरह प्राणीमात्र ही उसकी कृति है। अत वे भी एक कुटुम्ब रूप है, इसलिए उनके प्रति भी हमे सद्भावना रखनी चाहिए। मिट्टी या पत्थर का भी दुरुपयोग नही करना चाहिए।[4]

१. वसता गृहस्थावास, हिंसा हुवै जास।
आरम्भ विण करीये ए, पेट किम भरीये ए ॥३॥
करूं तस तणा पचखाण, थावर नो परमाण।
भेद तस तणां ए, ग्यानी कह्या घणा ए ॥४॥
कोई मोंने घाले घात, माहरो अपराधी साख्यात।
खमता दोहिलो ए, नही मोनें सोहिलो ए ॥५॥
विण अपराधी होय, तिणरी हिंसा दोय।
मारे जांणतां ए, वले अजाणतां ए ॥७॥
म्हारे घान जोखण रो काम, गाडी चढ जाऊं गाम।
खेती हल खडूं ए, सूर निनाण करूं ए ॥८॥
तिहां बहु जीव हणाय, किम पालू मुनीराय।
नहीं सभ्भे एसो ए, ग्रहवासे फस्यो ए ॥९॥
आकुटी ने साम, जीव मारण रे काम।
व्रत छै जाणता ए, नहीं अजांणतां ए ॥१०॥

बारह व्रत री चौपई गीति १

२ गाधीजी, खण्ड दश, अहिंसा—प्रथम भाग पृष्ठ २३
३ व्यापक धर्म भावना पृष्ठ ३०८
४. गाधी और गाधीवाद पृ० २७३-७४

जीवन धारणा की अपेक्षा और सूक्ष्म जीवों की अहिंसा के सम्बन्ध में महात्मा गांधी ने सुन्दर संगति दी है। आचार्य भिक्षु ने इस लोक को 'मच्छ गलागल' और महात्मा गांधी ने 'जीवो जीवस्य जीवनम्' के शब्द-विन्यास से देखा है। वे कहते हैं अहिंसा एक व्यापक वस्तु है। हम लोग ऐसे पामर प्राणी हैं, जो हिंसा की होली में फंसे हुए हैं। 'जीवो जीवस्य जीवनम्' यह बात असत्य नहीं है। मनुष्य बाह्य हिंसा के बिना जी नहीं सकता। खाते-पीते, उठते-बैठते, इच्छा से या अनिच्छा से कुछ-न-कुछ हिंसा करता ही रहता है। इस हिंसा से छूट जाने का प्रयास करता हो उसकी भावना में केवल अनुकम्पा हो, वह सूक्ष्म जन्तु का भी नाश न चाहता हो तो समझना चाहिए, वह अहिंसा का पुजारी है। उसकी प्रवृत्ति में निरन्तर संयम की वृद्धि होती रहेगी, उसकी करुणा निरन्तर बढ़ती रहेगी।[1]

धर्म के दो स्वरूप-आधिभौतिक और आध्यात्मिक

गीता कहती है जो प्रवृत्ति और निवृत्ति, कार्य और अकार्य, भय और अभय, बन्ध और मोक्ष, इन भेदों को जानती है, वह बुद्धि सात्त्विक है। जो धर्म और अधर्म, कार्य और अकार्य आदि भेद-प्रभेदों को यथार्थ नहीं जानती, वह बुद्धि राजसी है। धर्म को ही अधर्म माननेवाली और हर तत्त्व को विपरीत समझने वाली बुद्धि तामसी है।[2]

धर्म शब्द का प्रयोग एक समस्या

कार्यों की हेयता और उपादेयता को पाने के लिए नाना वर्गीकरण आवश्यक होते हैं। मीमांसकों ने अबन्धक और बन्धक की अपेक्षा से कर्म के दो भेद किए क्रत्वर्थ (यज्ञार्थ) और पुरुषार्थ। स्मृति विहित वर्णाश्रम कर्म, युद्ध वाणिज्य आदि स्मार्त कर्म और व्रत, उपवास आदि पुराण विहित कर्म पौराणिक कहलाए। नित्य,

१. युद्ध और अहिंसा (धर्म की समस्या) पृ० १७५

२. प्रवृत्ति च निवृत्ति च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्विकी॥३०॥
यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी॥३१॥
अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥३२॥
गीता अध्याय १८

नैमित्तिक, काम्य और निषिद्ध ये भी सब कर्मो के भेद हैं।[1] जैन-आगमो की भाषा मे पाप-आगमन के हेतुरूप कर्म अशुभ योग आश्रव हैं, पाप-निरोधक कर्म सवर है, पाप-मोचक कर्म निर्जरा हैं, पुण्य-निमित्तक कर्म शुभ योग आश्रव है। आचार्य भिक्षु ने इन्ही हेयोपादेय भेद-प्रभेदो को सावद्य-निर्वद्य, व्रत-अव्रत, प्रवृत्ति-निवृत्ति, त्याग-भोग, आज्ञा-अनाज्ञा आदि भेदो से अभिहित किया।

वैदिक परम्परा मे समाजस्थ प्राणियो के सभी करणीय और अकरणीय कर्म धर्म और अधर्म शब्दो से कहे जाने लगे। कार्यो की करणीयता और अकरणीयता विविध अपेक्षाओ पर आधारित थी। धर्म शब्द मे उन सबका समावेश बहुत ही भ्रामक हो गया। धर्म शब्द का मुख्य अर्थ आत्म-शुद्धि का साधन है, पर जब वह नीति कर्तव्य और नाना सामाजिक नियमनो के अर्थ मे व्यवहृत होने लगा तो सामान्य लोगो मे वे सभी कर्म मोक्ष साधक धर्म के अन्तर्गत समझे जाने लगे। विद्वान् और विचारक उन शब्द-प्रयोगो मे भले ही स्वय न उलझे हो, परन्तु उनके विभिन्न अपेक्षाओ से किए गए वे धर्म शब्द के प्रयोग समाज की धर्म सम्बन्धी धारणाओ मे एक समस्या बन गए।

महात्मा गांधी के शब्द-प्रयोग

महात्मा गाधी के शब्द-प्रयोगो को देखे। वे कहते है वन्दर जिस जगह उप-द्रवरूप हो गए हैं, उस जगह उनको मारने मे जो हिंसा होती है, वह क्षम्य है। ऐसी हिंसा धर्म होती है।[2] एक अन्य प्रसग से वे कहते हैं जब अकाल सामने हो तब अहिंसा के नाम पर फसल को उजडने देना मै तो पाप ही समझता हू।[3] इसी प्रकार एक प्रसग से वे लिखते हैं मछली या मास खाने वाले को ये चीजे खाने देने मे जो हिंसा होती है, उसे मैं हिंसा नही मानता। मैं उसे अपना धर्म समझता हू।[4] इन्ही विषयो पर वे प्रसगान्तर से दूसरी ही भाव-भाषा मे अपनी मान्यता प्रस्तुत करते हैं वन्दर को मार भगाने मे मैं शुद्ध हिंसा ही देखता हू। यह भी स्पष्ट है कि उन्हे अगर मारना पडे तो उसमे अधिक हिंसा होगी। यह हिंसा तीनो कालो मे हिंसा ही गिनी जाएगी। उसमे वन्दर के हित का विचार नही है, किन्तु आश्रय के ही हित का विचार है।[5] किसान जो हिंसा करता है, वह हिंसा अनिवार्य होकर

१ कर्मयोग शास्त्र पृ० ५६-५७

२ हरिजन ता० २६-४-४६

३. हरिजन बन्धु ता० २६-५-४३

४. आचार्य भिक्षु और महात्मा गाधी पृ० २०

५. अहिंसा (गुजराती) पृ० ५०-५२

क्षम्य हो सकती है, परन्तु अहिंसा नहीं हो सकती।[1] प्लेग के चूहे और खटमल भी मेरे सहोदर हैं। जीने का जितना अधिकार मेरा है, उतना ही उनका है।[2] इन परस्पर विरोधी उल्लेखों से यह स्पष्ट हो जाता है, बन्दर आदि की हत्या में धर्म कहते समय उनकी बुद्धि एक सामाजिक व राष्ट्रीय कर्तव्य की ओर रही है और उन्हीं कार्यों को हिंसापरक तथा दोषपूर्ण बताते समय उनका चिन्तन प्राणीमात्र की समानता और आत्म-धर्म की यथार्थता पर रहा है।[3]

तिलक और धर्म का उभयात्मक स्वरूप

कर्मयोग के असाधारण विवेचक लोकमान्य श्री बालगंगाधर तिलक के सामने धर्म शब्द का यह व्यापक प्रयोग कठिनाई होकर आया है। गीता-रहस्य के अनेकों पृष्ठों में धर्म के उभयात्मक रूप को उन्हें स्पष्ट करना पड़ा है। वे लिखते हैं धर्म और उसका प्रतियोग अधर्म ये दोनों शब्द अपने व्यापक अर्थ के कारण कभी-कभी भ्रम उत्पन्न कर दिया करते हैं। नित्य व्यवहार में धर्म शब्द का उपयोग पारलौकिक सुख का मार्ग इसी अर्थ में किया जाता है। जब हम किसी से प्रश्न करते हैं कि तेरा कौन-सा धर्म है? तब उससे पूछने का यही हेतु होता है कि तू अपने पारलौकिक कल्याण के लिए किस मार्ग वैदिक, बौद्ध, जैन, ईसाई, मुहम्मदी या पारसी में चलता है और वह हमारे प्रश्न के अनुसार ही उत्तर देता है। इसी तरह स्वर्ग-प्राप्ति के लिए साधन-भूत यज्ञ-याग आदि वैदिक विषयों की मीमांसा करते समय 'अथातो धर्मजिज्ञासा' आदि धर्म-सूत्रों में भी धर्म शब्द का यही अर्थ लिया गया है, परन्तु धर्म शब्द का इतना ही संकुचित अर्थ नहीं है। इसके सिवा राजधर्म, प्रजाधर्म, देशधर्म, जातिधर्म, कुलधर्म, मित्रधर्म इत्यादि सांसारिक नीति-बन्धनों को भी धर्म कहते हैं। धर्म शब्द के इन दो अर्थों को यदि पृथक् करके दिखलाना हो तो पारलौकिक धर्म को मोक्ष धर्म अथवा सिर्फ मोक्ष और व्यवहारिक धर्म अथवा केवल नीति को केवल धर्म कहा करते हैं।[4] इसी प्रकरण में वे आगे लिखते हैं—जो कर्म हमारे मोक्ष, हमारी आध्यात्मिक उन्नति के अनुकूल हो वही पुण्य है, वही धर्म है और वही शुद्ध कर्म है और जो कर्म उसके प्रतिकूल है वही पाप, अधर्म अथवा अशुभ है।[5]

१. अहिंसा (गुजराती) पृ० १३६
२ व्यापक धर्म भावना पृ० ६-१०
३ विशेष विवरण आचार्य भिक्षु और महात्मा गांधी पृ० १७-२६
४. गीता रहस्य प्रकरण ३ पृ० ६७-६८
५. गीता रहस्य प्रकरण ३ पृ० ७०

मोक्ष-धर्म और समाज-धर्म की इतनी स्पष्ट धारणा होते हुए भी लोकमान्य तिलक ने विषय के उपसहार मे यही कहा है—क्या सस्कृत और क्या भाषा सभी ग्रन्थो मे धर्म शब्द का प्रयोग उन सब नीति-नियमो के बारे मे किया है, जो समाज धारणा के लिए शिष्टजनो के द्वारा अध्यात्म-दृष्टि से बनाए गए हैं। इसलिए उसी शब्द का उपयोग हमने भी इस ग्रन्थ मे किया है।[1]

मोक्ष-धर्म और व्यवहारिक धर्म विषयक अपनी धारणा को यदि लोकमान्य तिलक अपने सहस्र पृष्ठो के विशाल ग्रन्थ गीता-रहस्य मे आदि से अन्त तक उसी शब्द-भेद के साथ निभाते तो गीता-दर्शन एक नया ही रूप ले लेता। वह इस पहलू पर एक वैसी ही क्रान्ति होती, जैसी जैन-परम्परा मे आचार्य श्री भिक्षु ने की है। पर वर्तमान गीता-रहस्य तो लौकिक धर्म और लोकोत्तर धर्म को मिलाकर चलने वाली प्राचीन परम्परा का ही पोषक ग्रन्थ बन गया है। शब्द-प्रयोग का प्रारम्भ मे किया जानेवाला मात्र स्पष्टीकरण सामान्य पाठको के साथ बहुत आगे तक नही चल पाता।

लौकिक धर्म और लोकोत्तर धर्म की विभक्ति

आचार्य श्री भिक्षु लौकिक धर्म और लोकोत्तर धर्म को मिला देने के नितान्त विरोधी थे। उनकी धारणा थी, दोनो धर्मों को एक ही मानकर चलने मे उद्देश्य-हानि के कारण दोनो ही अपना स्वरूप खो सकते हैं। एक वणिक् घृत और तम्बाकू इन दो चीजो का व्यापार करता था। एक दिन अपनी दुकान लडके को सम्भला-कर स्वय किसी दूसरे गाव को चला गया। लडका वस्तु-विवेक से रहित था। उसने सोचा, पिताजी दोनो वस्तुओ का भाव तो एक ही बतला कर गए हैं और इधर आधा बर्तन तम्बाकू से भरा है और इधर आधा घृत से। क्यो नही मैं दोनो को एक ही बर्तन मे डालकर एक बर्तन खाली करके ही रख दू? वैसे ही किया। कोई भी ग्राहक आता घृत या तम्बाकू का तो वह उसे घृत-तम्बाकू-क्वाथ दिखलाता और कहता दोनो चीज एक ही भाव की है। ले जाइये। ग्राहक उसकी मूर्खता पर हसकर वापिस लौट जाते। सायकाल पिता दुकान पर आया। लडके की बुद्धिमानी देखी। हैरान रहा। बोला, ऐसा करके तो तू ने दोनो ही वस्तुओ का सत्यानाश कर दिया।[2] यही बात आचार्य भिक्षु मोक्ष-धर्म और समाज-धर्म को

१. गीता रहस्य प्रकरण ३ पृ० ७२

२. जिम कोइ घ्रत तंबाखू विणजै, पिण बासण विगत न पाडै रे।
घ्रत लेई तबाखू में घालै, ते दोनूई वसत विगाडै रे॥
व्रताव्रत चौपई गीतिका ४ गाथा १

एक कर देने के विषय मे माना करते थे। उनका कथन था, अपने-अपने स्थान पर दोनो वस्तुएं उपयोगी और मूल्यवान् हैं। पर दोनो का इस प्रकार का मेल दोनो के लिए ही घातक होता है। सर्वसाधारण को विविध उदाहरणो से उन्होने आधिभौतिक और आध्यात्मिक धर्मों का बोध दिया है। वे कहते हैं कोई व्यक्ति अग्नि से जल रहा है या कुए मे गिर रहा है, उसे किसी ने बचाया, यह लौकिक उपकार है।[1]

किसी ने किसी व्यक्ति को बोध-दान कर पाप-मुक्त किया और वह पाप-मुक्त व्यक्ति भव-कूप मे गिरने से बचा और भव-दावाग्नि से जलते-जलते बचा, यह लोकोत्तर उपकार है और मोक्ष-मार्ग है।[2]

कोई किसी मरणासन्न रोगी को औषधादि उपचार से स्वस्थ कर मरने से बचा लेता है, यह सासारिक उपकार है।[3]

किसी व्यक्ति ने मरणासन्न व्यक्ति को चार शरण दिए, नानाविध त्याग कराए, सासारिक आसक्ति से मोह-मुक्त किया, यावत् आमरण अनशन (सथारा) करा दिया, यह उपकार मोक्ष सम्बन्धी है।[4]

किसी व्यक्ति ने किसी का तालाव मे डूबने से बचाया या ऊपर से गिरते हुए को बचाया, यह उपकार सासारिक है।[5]

१ कोइ द्रवे लाय सू वलतो राखै, द्रवे कूवो पड़ता नें झाल बचायो।
ओ तो उपगार कीयो इण भव रो, जो विवेक विकल त्याने खबर न कायो॥
अनुकम्पा चौपई गीति ८ गाथा २

२. घट में ग्यान घाल नें पाप पचखावै, तिण पड़तो राख्यो भव कूआ माह्यो।
भावे लाय सू वलता नें काढ़े रिषेश्वर, ते पिण गेहला भेद न पायो॥
अनुकम्पा चौपई गीति ८ गाथा ३

३ कोइ मरता जीव नें जीवा वचावै, झाडा झपटा करै ओषध देइ तांम।
वले अनेक उपाय करै नें तिणनै, मरतो राख्यो साजो कीयो तमाम॥
अनुकम्पा चौपई गीति ११ गाथा ८

४ कोइ मरता जीव नें सूस करावै, च्यारू सरणा देइ नें करावै संथारो।
ग्यान ध्यान माहें परिणांम चढ़ावै, त्यातीलां सू देवें मोह उतारो॥
अनुकम्पा चौपई गीति ११ गाथा ९

५ कोइ लाय सू वलता नें काढ़ वचायो, वले कूए पड़ता नें झाल वचायो।
तलाव माहे डूवा नें वारै काढै, वले उंचा थी पडतां नें झालै लीयो ताह्यो॥
अनुकम्पा चौपई गीति ११ गाथा १२

किसी ने किसी व्यक्ति को ससार-समुद्र मे डूबने से वचाया या नरकादि निम्न गतियो मे पडने से वचाया, यह उपकार मोक्ष सम्बन्धी है।[1]

किसी के घर मे आग लगी है। छोटे-वडे सभी लपेट मे आ गए हैं। किसी ने आग बुझाकर उन सवको वचा लिया है, यह सासारिक उपकार है।[2]

किसी व्यक्ति के घट मे तृष्णा की होली जल रही है, उसके ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि गुण उसमे जल रहे हैं। किसी ने धर्मोपदेश कर वह तृष्णा की आग बुझा दी, उसके हृदय मे शान्ति का मेघ वरसा दिया, यह उपकार आध्यात्मिक है।[3]

कोई व्यक्ति अपने पुत्र का लालन-पालन करता है, उसका विवाह करता है, उसके लिए भोगोपभोग की सभी सामग्री जुटाता है, यह उपकार सासारिक है।[4]

कोई व्यक्ति अपने पुत्र को प्रारम्भ से आध्यात्मिक प्रशिक्षण देता है, ससार की अनित्यता वताता है, विपय-सुखो को दु ख-मूल वताता है और त्याग-मार्ग पर अग्रसर कर देता है, यह उपकार आध्यात्मिक है।[5]

कोई व्यक्ति माता-पिता को कावड मे लिए चलता है, यथासमय उन्हे यथा-रुचि भोजन कराता है, यह सेवा सासारिक है।[6]

१. जनम मरण री लाय थी वारे काढ़े, भव कूआ माँहि थी काढ वारे।
नरकादिक नीची गति माहें पड़ता नें राखै, ससार समुद्र थी वारै काढ उधारै॥
अनुकम्पा चौपाई गीति ११ गाथा १३

२ किणरै लाय लागी घर वलै छै, तिणमें नान्हा मोटा जीव वलै लाय माहि।
कोइ लाय वुझाय त्यानै वारै काढै, घणारै साता कीधी लाय वुझाई॥
अनुकम्पा चौपई गीति ११ गाथा १४

३. किणरे तिसणा लाय लागी घट भितर, ग्यानादिक गुण वलै तिण माय।
उपदेस देइ तिणरी लाय वुझावै, रूम रूम में साता दीधी वपराय॥
अनुकम्पा चौपई गीति ११ गाथा १५

४. कोइ टावर पालै नें मोटा करै छै, आछी आछी वस्त तिणनें खवाय।
वले मोटे मंडाण करै परणावै, वले धन माल देवै कमाय कमाय॥
अनुकम्पा चौपई गीति ११ गाथा १६

५. कोई वेटा नें रूडी रीत समझाए, धन माल सगलोइ देवै छोड़ाय।
काम भोग अस्त्रीयादिक खावो नें पीवो, भली भांति सू त्याग करावै ताय॥
अनुकम्पा चौपई गीति ११ गाथा १७

६ माता पिता री सेवा करै दिन रात, वले मनमान्या भोजन त्यानै खवावै।
वले कावड कांधे लीया फिरै त्यारी, वले वेहू टकां रो सिनान करावै॥
अनुकम्पा चौपई गीति ११ गाथा १८

कोई व्यक्ति वृद्धावस्था मे माता-पिता को धार्मिक स्वाध्याय कराता है, शब्दादि विषयों में अरुचि उत्पन्न कराता है और ज्ञान, दर्शन आदि आत्म-गुणों में लीन करता है, यह सेवा पारमार्थिक है।[1]

जगल में राह भूले व्यक्ति को कोई राह बता देता है या उसे कन्धों पर बिठाकर उसके घर पहुंचा देता है, यह आधिभौतिक उपकार है।[2]

संसाररूप अटवी में भटकते हुए मनुष्य को कोई ज्ञान-मार्ग बता देता है, उनका पाप-भार दूर कर देता है और उसे आनन्दपूर्वक मुक्ति पहुंचा देता है, यह धार्मिक उपकार है।[3]

प्रवृत्ति और निवृत्ति का समन्वित मार्ग

आचार्य भिक्षु की धर्म के विषय में जिस प्रकार आधिभौतिक और आध्यात्मिक उभय स्वरूपात्मक व्याख्या रही उसी प्रकार दया, दान, सेवा आदि सभी व्यापक शब्दों को लौकिक और लोकोत्तर भेदों में बांट देने की मीमांसा रही। उन्होंने मुनि-जीवन को निकेवल अध्यात्म साधक माना और गृही-जीवन को निवृत्ति और प्रवृत्ति का एक समन्वित मार्ग।

गृही-जीवन के उभयात्मक रूप को स्पष्ट करते हुए उन्होंने एक बहुत ही सरल और भावबोधक उदाहरण दिया। किसी नगर में एक धनवान् सेठ रहता था। उसके दो पत्नियां थीं। दोनों की ही सेठ के प्रति अत्यन्त आत्मीयता थी। दो पत्नियां होकर भी सेठ का दाम्पतिक जीवन सुख-पूर्ण था। उन दोनों में एक आध्यात्मिक दृष्टि को समझनेवाली थी और दूसरी इसमें सर्वथा अनभिज्ञ थी। अकस्मात् सेठ का शरीरान्त हो गया। घर में कोलाहल मचा। पारिवारिक लोग एकत्रित हुए। प्रथम स्त्री धर्म-मर्मज्ञा थी। उसने सोचा, यह संसार की नश्वरता है, इसे कोई टाल नहीं सकता। दिवगत आत्मा के प्रति मोह, आसक्ति और आर्त-

१ कोइ मात पिता नें रूडी रीते, भिन भिन कर नें धर्म सुणावै।
ग्यान दरसण चारित त्यानें पमावै, काम भोग शब्दादिक सर्व छोडावै॥
अनुकम्पा चौपई गीति ११ गाथा १६

२ गृहस्थ भूलो उज्जड वन में, अटवी नें वले उजाड जावै।
तिणनें मारग बताय नै घरे पोहचावै, वले थाको हुवै तो कांधे बेसावै॥
अनुकम्पा चौपई गीति ११ गाथा २४

३ संसार रूपणी अटवी में भूला नें, ग्यानादिक सुध मारग बतावै।
सावद भार नें अलगो मेलाए, सुखे सुखे सिवपुर में पोहचावै॥
अनुकम्पा चौपई गीति ११ गाथा २५

ध्यान करके मैं क्यो अपनी आत्मा को बन्धन मे डालू। मुझे अपनी राग-वृत्ति पर विजय पानी चाहिए। वह स्वाध्याय, ध्यान, जप आदि मे लीन हो गई। दूसरी स्त्री ने अपने अनुराग का और सासारिकता का मुक्त प्रदर्शन होने दिया। सर पीटना, छाती कूटना, हृदय द्रावक शब्दो मे विलापात करना आदि सब किए। आने वाले लोग परस्पर यही चर्चा करते घर से वापिस होते देखे गए सही पति-भक्ता तो यही है। इसीको अपार कष्ट हुआ है। उसके तो मानो, वह कुछ लगता ही नही था। वह तो अपने स्वार्थ की पतिभक्ता थी। किसी एक तत्त्वज्ञ ने यह भी कहा, उसका विवेक, उसकी साधना बहुत ऊची है। उसने दर्शन और धर्म के अध्ययन से जीवन की नश्वरता का जो पाठ पढा है, उसे जीवन मे भी उतारा है। रोने-पीटनेवाली तो सहस्रो स्त्रिया मिलेगी, इस प्रकार की मर्मविद् तो कोई बिरली ही मिलती है। आचार्य भिक्षु कहते है, यह लोक-दृष्टि और लोकोत्तर दृष्टि का भेद है।[1]

धर्म के दो विभाग

सुप्रसिद्ध गान्धीवादी विचारक श्री हरिभाऊ उपाध्याय लिखते है भारतीय प्राचीन ग्रन्थो मे धर्म के दो विभाग माने गए हैं मोक्ष धर्म और व्यवहार या ससार-धर्म। पारलौकिक, आध्यात्मिक या ईश्वर सम्बन्धी विभाग को मोक्ष-धर्म और समाज-व्यवस्था, समाजोन्नति सम्बन्धी सासारिक विभाग को ससार-धर्म कहा गया है।[2] इसी विषय को स्पष्ट करते हुए वे आगे लिखते हैं एक धर्म वह है, जो परम सत्य तक पहुचने का साधन है। जैसे प्राणीमात्र के प्रति आत्म-भाव रखना, सबको अपने जैसा समझना, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, सत्य, अपरिग्रह, अस्तेय, आदि का पालन करना। एक धर्म है, कर्तव्य जैसे माता-पिता की सेवा करना पुत्र का धर्म है। पडोसी की और दीन-दुखियो की सहायता करना या प्रतिज्ञा-पालन करना मनुष्य का धर्म है।[3]

जीवन का परम उद्देश्य सुख है। सुख को दो भागो मे विभक्त करते हुए वे कहते हैं धन, वैभव, राज्य, पुत्र-सन्तति, कीर्ति, मान-सम्मान, पद-प्रतिष्ठा आदि सुख शारीरिक, भौतिक, ऐहिक तथा मानसिक हैं।

मुक्ति, ईश्वर-प्राप्ति, शान्ति, सुख, आनन्द, ज्ञान आदि सुख पारमार्थिक या

१ भिक्षुजसरसायन गीति २२ व भिक्खु दृष्टान्त स० १३०
२ स्वतन्त्रता की ओर पृ० २९३
३ स्वतन्त्रता की ओर पृ० २९२

आध्यात्मिक हैं।[1]

द्वेष और राग की परख

चिन्तन के क्षेत्र मे आचार्य भिक्षु की मान्यता जरा भी अपूर्व या अनघड नही है। अतीत और वर्तमान के अनेको विद्वानो एव विचारको ने उसी क्रम मे सोचा, माना और लिखा है। आचार्य भिक्षु को इस यथार्थ और सर्वसम्मत जैसी मान्यता के निरूपण मे अनेको विरोध सहने पडे। इसका कारण लोगो का साम्प्रदायिक अभिनिवेश था। आचार्य भिक्षु की दृष्टि मे राग को समझने की क्षमता थी। उन्होंने कहा किसी व्यक्ति ने किसी एक बालक के शर मे चपेटा मारा। देखनेवालो ने कहा भले मानस ! यह क्या करते हो ? किसी एक व्यक्ति ने बालक के हाथ मे मोदक या मूला दे दिया। देखनेवालो ने टोका नही, प्रत्युत वे खुश हुए। इस प्रकार द्वेष को परखना बहुत सहज है, पर राग की यथार्थता को परख लेना कठिन है।

गृहस्थ सब कुछ आध्यात्मिक ही करे और समाजोपयोगी या लौकिक कार्य करे ही नही, यह आचार्य भिक्षु का आग्रह नही था। उनका कथन था, वणिग् अपनी दुकान पर बैठकर नामे और जमा का हिसाब बराबर नही समझेगा और नही रखेगा तो उनकी दुकान नही चलेगी। जीवन भी एक व्यापार है। उसमे हरएक व्यक्ति के पास विवेक-चक्षु होना चाहिए कि वह लौकिक और लोकोत्तर के सतुलन व वैषम्य को समझकर अपने आपको सम्भालता रहे।

एक स तुलित जीवन-दर्शन

तर्क और चिन्तन के राजपथ पर

महाशास्ता गौतम ने कहा भिक्षुओ, मैं जो कुछ कहता हू, वह परम्परागत है इसलिए सच मत मानना, लौकिक न्याय है ऐसा मानकर सच मत मानना, सुन्दर लगता है ऐसा मानकर सच मत मानना, तुम्हारी श्रद्धा का पोषक है इसलिए सच मत मानना, हमारे शास्ता का कहा हुआ है यह मानकर सच मत मानना, किन्तु तुम्हारा हृदय और मस्तिष्क जिस बात को विवेकपूर्वक ग्रहण करते हो उसे ही सत्य मानना।[2]

महाकवि कालिदास ने कहा सब कुछ प्राचीन ही यथार्थ नही है। न सबकुछ नवीन ही यथार्थ है। विज्ञजन अपने परीक्षा-बल से यथार्थ को ग्रहण करते हैं।

१. स्वतन्त्रता की ओर पृ० २६४ पर किए गए विवेचन से

२ अगुत्तर निकाय कालाम सुत्त

अजजन ही केवल इतर विश्वासो के अनुयायी होते है।[1]

वर्तमान युग का एक स्वस्थ विचारक इस बात को और भी बलपूर्वक कहेगा—यथार्थता की अन्तिम कसौटी हमारा अपना विवेक ही हो सकता है।

विवेचन की परिपाटी

शास्त्रो ने अमुक विषय मे क्या कहा, दूसरे विचारक और विद्वान् इस विषय मे क्या कह रहे हैं, विवेचन की इस परिपाटी को मान्यता इसलिए दी जाती है कि वह हमारे नए चिन्तन की प्रेरक भूमिका बनती है। यदि ऐसा न होता तो एक पचवर्षीय बालक भी किसी विषय पर इतना ही प्रशस्त सोच लेता, जितना कि एक पारगत पण्डित। पर ऐसा इसलिए नही होता कि उस बालक के मस्तिष्क मे तत्सम्बन्धी अध्ययन की वह भूमिका नही है, जिस पर वह अपना नया चिन्तन अकुरित कर सके। वर्तमान पीढी यदि अतीत की पीढियो से कुछ भी नही लेती होती तो ज्ञान-विकास की दृष्टि से प्राक्तन और चिरन्तन पीढी मे ज्ञान-विकास की कोई तरतमता ही नही बनती। स्वतन्त्र और तर्क-प्रधान चिन्तन का अर्थ सिमिट कर केवल इतना ही रह जाता है जिस विषय मे अब तक जितना सोचा जा चुका है, उसके साथ अपनी बुद्धि का नवीन मेल वह और बिठा दे। आधुनिक विज्ञान भी इसी क्रम से विकसित होता रहा है। न्यूटन और गेलेलियो की ज्ञान-भूमि पर खडे होकर ही आईस्टीन ने अपनी बुद्धि-सयोजन से विश्वमान्य सापेक्षवाद को जन्म दिया है। यह ठीक है, स्वस्थ सिद्धान्त निकेवल वही है, जो बिना किसी पर-आलम्बन के अपने बूते पर खडा रह सके, उतना ही सत्य यह है दो विचार पारस्परिक सगति पाकर और अधिक प्रभावशाली बन जाते हैं। दीप वह है, जो अपनी वर्ती और तेल के सहारे पर जलता है और प्रकाश देता है। किसी विशेष हेतु से यदि इधर-उधर बिखरे दीपो को कोई सावधान व्यक्ति एक ही आलय विशेष मे सजोकर रख दे तो क्या वह आलय अधिकाधिक नही जगमगा उठेगा।

प्रस्तुत ग्रन्थ मे अब तक हम उन शास्त्राधार और व्यक्ति वशिष्ट्य के दृष्टि-कोणो से शोध करते रहे हैं। अब हमे इसी विषय को निरपेक्ष चिन्तन की कसौटी पर कसना है।

जीवन : सराय का बसेरा

कुछ एक विचारक कहते हैं, जीवन को लौकिक और लोकोत्तर आदि भागो

१. पुराणमित्येव न साधु सर्वं, न चापि काव्य नवमित्यवद्यम्।
सन्त परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते, मूढ. परप्रत्ययनेयबुद्धि ॥

में विभक्त करना उचित नहीं। जीवन के मूल में नाना अपेक्षाएं शाश्वत हैं ही। जीवनगत समीक्षा में उन्हें भुलाया नहीं जा सकता। प्रमाणवार्तिक ग्रन्थ की यह उक्ति यथार्थ है यदिदं स्वयमर्थाना रोचते तत्र के वयम्[1] यदि सापेक्ष स्थिति स्वयं पदार्थों को अभीष्ट है तो हम उन्हें निरपेक्ष स्थिति में बताने वाले कौन ? भारतीय दर्शन की यह सुस्थिर मान्यता है मनुष्य-जीवन एक सराय का बसेरा है। उसका परम लक्ष्य तो चौरासी लक्ष जीवयोनि के चक्र से मुक्त होकर निर्वाण प्राप्त करना है। मंजिल और सराय एक नहीं हो सकते। पथिक को दोनों की अपेक्षाएं समझकर बरतना होगा। सराय में ठहरा पथिक दिनों और पहरों की अवधि के लिए एकत्रित जन-समुदाय का एक अंग होगा। वहा की व्यवस्था का वह पूर्ण पालक होगा। एकत्रित लोगों में भाईचारा निभाएगा। वहा की व्यवस्था को और अधिक सुन्दर बनाने का प्रयत्न करेगा। एक विवेकशील बटोही अपने इन कर्तव्यों में चुकेगा नहीं। साथ-साथ अपने आपको वहा वह इतना भी समर्पित नहीं कर देगा कि उसकी मंजिल जहा-की-तहा धरी रह जाए। अपनी शक्ति और अपनी सम्पत्ति का सन्तुलित उपयोग वह अपने सराय के बसेरे को सुविधापूर्ण बनाने के लिए करेगा। शेष शक्ति व सम्पत्ति को मंजिल तक पहुचने के लिए बचा रखेगा। पथिक का यह मान लेना भ्रम ही होगा कि मेरी अन्तिम मंजिल यह सराय ही है, और मुझे यहा की सुख-सुविधा के लिए ही न्यौछावर हो जाना है।

नये जीवन-दर्शन का ज्वलन्त प्रश्न

युग बदला है। स्थितियां बदली हैं। मनुष्य के विश्वास बदले हैं। परिणाम-स्वरूप समाज व्यवस्था भी नई करवटें ले रही है। जीवन के नये मूल्य स्थापित किए जा रहे हैं। भारतवर्ष निकट भूत में स्वतन्त्र हुआ है। जीवन की नूतन व्यवस्थाओं की ओर अग्रसर हो रहा है। भारतीय जनता के सामने नये जीवन-दर्शन की सृष्टि का ज्वलन्त प्रश्न है। ऐसे सामुदायिक और समताप्रधान समाज-दर्शन भी इस युग के आकर्षक बन रहे हैं, जिनमें साधन की हेयोपादेयता पर कोई विचार नहीं है। भाव्य ही जहा केवल आंखों में दिखनेवाला पार्थिव जगत है। आत्मा और चैतन्य दो विरोधी जडों के गुणात्मक परिवर्तन के परिणाम हैं।[2]

भारतीय मानस चेतन की शाश्वतता का विश्वास नहीं खो सकता। क्षितिज के उस ओर को भूलाकर न ही वह इस छोटे-से घेरे में चेतन की अथ से इति मान सकता है। क्षण स्थायी वर्तमान के लिए अनन्त भविष्य को भुला देना, वह बराबर घाटे का सौदा समझेगा। साथ-साथ उस दूरवर्ती विश्व की चिन्ता में इस प्रत्यक्ष

१. धर्मकीर्ति रचित प्रमाणवार्तिक २-२०९
२. विशेष विवेचन के लिए देखें जैन दर्शन और आधुनिक विज्ञान

विश्व के लिए वह नितान्त निष्क्रिय और अपेक्षाशील होकर बैठे, यह भी विचारकता नही होगी। अध्यात्मपरायण जनता के लिए ऐसे जीवन-दर्शन की अपेक्षा है, जिसमे वर्तमान और भविष्य मे एक के लिए दूसरे का विघटन न हो। प्रत्युत दोनो पक्षो को आलोकित करनेवाला वह जीवन-दर्शन 'देहली दीपक' हो। वह जीवन-दर्शन सामुदायिक हो या विकेन्द्रित, उसका मूल आत्मवाद और अहिंसा पर तो टिका ही होगा।

समाज-धारण के आधार सूत्र

अहिंसा और धर्म श्रेयोभिगमन के हेतु है। हिंसा और अधर्म आत्मा के अधोगमन के हेतु हैं। इन दो पक्षो के बीच मे समाज-व्यवस्था का प्रश्न है। समाज की वर्तमान अपेक्षाओ को पूरा करने के लिए उसके स्वास्थ्य, भोग और शान्ति की अभिवृद्धि के लिए कुछ आचरण अहिंसा और धर्म के आध्यात्मिक क्षेत्र से अपनाये जाते हैं और कुछ आचरण हिंसा और अधर्म के अनाध्यात्मिक पक्ष से। उन समाज-सम्मत आचरणो को नीति कहा जाता है। समाज-शास्त्री उसे ही अपने समाज-शास्त्र का मेरुदण्ड मानकर चलते हैं। लोगो का पारस्परिक व्यवहार नैतिक हो, उनकी प्रवृत्तियो मे सकीर्ण स्वार्थ न हो, उनके विचारो मे विश्व-बन्धुत्व हो, वे सदाचारी हो, ये समाज-व्यवस्था को शान्त और प्रसन्न बनाए रखने के वे सूत्र हैं जो आत्म-साधना के क्षेत्र से आए हैं और उन्हे आध्यात्मिक मान्यताओ के साथ सामाजिक मान्यताए भी मिली है। फसल उजड न जाए और लोगो को भूखो न मरना पडे, इसलिए टिड्डियो को मारा जाता है। जन-जीवन की रक्षा के लिए हिंस्र पशुओ और चोर-डाकू आदि असामाजिक तत्त्वो को दण्डित और पीडित किया जाता है, समय-समय पर उठने वाले आतक को दबाने के लिए आरक्षक गोली चलाते हैं, देश की सुरक्षा के लिए बडी-से-बडी सेना रखी जाती है, आवश्यकतावश वह सहस्रो शत्रुओ को मौत के घाट लघाती है, ये वे व्यवस्थाए हैं, जो हिंसा और अधर्म के अनाध्यात्मिक क्षेत्र से आती हैं और समाज मे मान्यताए प्राप्त कर एक नीति का रूप लेती हैं। हिंसा और अहिंसा के, धर्म और अधर्म के इस योग से एक समाज-व्यवस्था बनती है। समाज-व्यवस्था के इन हिंसापूर्ण व्यवहारो को चलाने मे व्यक्ति निष्काम और अनासक्त जितना भी रह सके, अच्छा है। पर इस निष्कामता और अनासक्ति से हिंसा मिटकर अहिंसा नही बन जाती, अधर्म मिटकर धर्म नही बन जाता। हिंसा मे सर्वभूत हित कभी नही निभ सकता। स्थावर या जगम जिन जीवो को मरना पड रहा है, उन्होंने अपने प्राण समाज हित के लिए कब न्योछावर किए थे। भले ही व्यवहार-सचालको के मन मे व्यक्तिगत स्वार्थ

की बात न हो, परन्तु किसी एक प्राणी को मारकर दूसरे को सुख-सुविधा पहुंचाने की बात प्रत्यक्ष स्वार्थपूर्ण ही है। अनासक्ति और निष्कामता का यथार्थ निर्वाह भी तथा प्रकार की हिंसाओं में यथार्थ रूप से नहीं हो सकता। कुछ को मारकर कुछ के संरक्षण में रागात्मक कामना और आसक्ति तो है ही।

यह प्रश्न तो उचित हो सकता है कि उक्त प्रकार की अनिवार्य हिंसाओं के बिना समाज का धारण कैसे हो सकता है? शासन-मुक्त समाज की परिकल्पना भी विकसित हुई है, जिसमें समाज-धारणा की बहुत सारी हिंसाएं विघटित हो जाती हैं। पर यह एक बहुत दूर की बात है। जन-जीवन के वर्तमान स्तर में जो हिंसाएं अपेक्षित हैं, समाज-शास्त्र की दृष्टि से उन्हें तो एक नीति का अंग मानना ही पड़ता है। उस सामाजिक जीवन में हिंसा और अहिंसा की तरह त्याग और भोग, प्रवृत्ति और निवृत्ति, स्वार्थ और परमार्थ साथ-साथ चलते हैं। व्यक्ति अपने समाज और मोक्ष के उद्देश्य युग्म को साधता भी जाता है और एक के लिए दूसरे की स्वरूप-हानि भी नहीं करता। वह समाज में रहकर भी स्वतन्त्र रूप में मोक्ष-साधना करता है, पर उससे सामाजिक सह्जीवन में कोई विक्षोभ या विघटन नहीं आने देता। सामाजिक मर्यादाओं का वह इसलिए पालन करेगा कि उसने अपने आपको समाज का एक अंग माना है। वह हिंसा परक और अहिंसा परक सामाजिक नियमनों का कर्तव्य-भाव से पालन करता ही रहेगा। कर्तव्य-भावना से वह सेवा, परोपकार, दान, करुणा आदि के लौकिक और लोकोत्तर स्वरूप को यथावत् समझता भी रहेगा और दोनों अपेक्षाओं से सम्बद्ध होने के कारण उन्हें करता भी रहेगा। धर्म और समाज का यही सम्बन्ध यौक्तिक और यथार्थ लगता है।

निर्हेतुक भय

कुछ लोगों को भय है, समाज-धारण सम्बन्धी प्रवृत्ति-प्रधान कार्यों को धर्म के अन्तर्गत न रखने से लोग सामाजिक अपेक्षाओं से विमुख हो जाएंगे और समाज दिन प्रतिदिन विशृंखल और दुःखमय बनता जाएगा। समाज सुखी बने या नहीं, यह एक पृथक् चिन्ता है और प्रवृत्ति जन्य कार्य अध्यात्म कोटि में आते हैं या नहीं यह एक पृथक् प्रश्न है। असाधन को साधन मानकर चलना उचित नहीं। धर्म यदि समाज की समस्त अपेक्षाओं का पूरक साधन है ही नहीं तो उसे उस रूप में जोड़ लेना यथार्थ भी नहीं और श्रेयस्कर भी नहीं। आंख की दवा आंख में और जीभ की दवा

जीभ पर ही यथार्थ होती है।[1] लोग समाजोपयोगी कार्यों से विमुख हो जाएंगे, यह आशका भी सगत नही है। जिन देशो मे धर्म समाज-व्यवस्था का या परलोक-सिद्धि का अग माना ही नही गया है, उन देशो मे भी लोग कर्तव्य-भावना से समाज हित के सभी कार्य करते हैं और वर्तमान भारतीयो से कही अधिक निष्ठा के साथ।

सामाजिक परिणाम भी असुन्दर

सामाजिक अभिसिद्धियो के लिए भारतवर्ष मे धर्म का उपयोग होता रहा है। निष्कर्ष रूप मे इसके लौकिक परिणाम भी सुन्दर नही रहे है। हिन्दू धर्म मे जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त के समस्त क्रिया-काडो को धर्म का अग बना दिया गया। आज उसका परिणाम यह है कि नाना रूढिया, नाना अन्धविश्वास और नाना असामाजिक प्रथाए भी धर्म के नाम पर पल रही है। देश, काल के अनुसार लोग अपने जीवन-क्रम मे थोडा भी परिवर्तन लाने के लिए उत्सुक नही देखे जाते।

मानव जीवन व्यष्टिपरक से समष्टिपरक बना। परिवार, ग्राम, समाज और देश बने। अनाथ, अगहीन व अकर्मण्य लोगो की सख्या बढी। हल निकाला गया—दान करो, गरीबो पर दया करो। परोपकार ही अष्टादश पुराणो का सार है। यही सर्वोत्तम पुण्य कर्म है।[2] समाज मे भीखमगी बढी, अकर्मण्यता बढी और उदरपूर्ति के ढोग बढे। स्थिति यहा तक पहुच गई, तथारूप प्रत्येक राष्ट्र के लिए भीख-मगी एक ज्वलन्त समस्या बन गई। नाना नियमनो के निर्धारण मे भी उसका नियमन दुष्कर हो रहा है।

करुणा और सेवा

करुणा का पूरक सेवा शब्द समाज मे आया। उपकारक को अपना अह समझने का अवसर मिला। सेवा भावी सस्थाए बनी। जीवन-दानी समाज-सेवक बने। वे जनता की शिक्षा, स्वास्थ्य आदि से सम्बन्धित अनिवार्य अपेक्षाओ के जुटाने मे लगे। महात्मा ईसा ने कहा था, सूई की नोक से ऊट निकल सकता है, पर धन-

१. जीभ रो ओषद आख्या में घाल्यो, आख्या रो ओषद जीभ में घाल्यो रे।
तिण री आखई फूटी नें जीभई फाटी, दोनूंइ इन्द्री खोय चाल्यो रे॥
व्रताव्रत चौपई गीति ४० गाथा ४

२. अष्टादश पुराणाना, सार सारं समुद्धृतम्।
परोपकार पुण्याय, पापाय परपीड़नम्॥

वान् को स्वर्ग नही मिल सकता। यहा दान, करुणा और सेवा के आवरण मे धनिको को तीनो मगल मिले। आदि मगल समाज मे प्रतिष्ठा, मध्य मगल सग्रह और शोषण की अवधि का विस्तार हो जाना, अन्त मंगल स्वर्ग मे भी ऊचा स्थान प्राप्त कर लेना।

सेवा और दान की अपेक्षा नहीं

दया, दान आदि के विचार सामाजिक अपेक्षाओ पर खडे थे, पर आज के परिवर्तनशील युग मे वे अपेक्षाए वदल चुकी हैं। पिछले युग ने दानियो को उच्चता की अनुभूति मे ऊपर उठने का विवेक दिया। दया, दान और परोपकार के वदले जन-जन का सेवक होकर रहने की वात कही। वर्तमान युग ने मनुष्य को वह वोध दिया है, जिसमे वह किसी के द्वारा सेवा लेकर उपकृत होने की वात से हीनता की अनुभूति करने लगा है। समानता व स्वतन्त्रता को अपना जन्मसिद्ध अधिकार मानने लगा है। वह अपने जीवनयापन के लिए सेवा कराना और दान नही चाहता। वह अपने सामाजिक अधिकार की भूमि पर ही अपने जीवन की गाड़ी को खीचना चाहता है। जन-मानस की उद्दीप्त प्रेरणा ने सारा समाज-शास्त्र वदल डाला है। "कुछ आदमी सोचते हैं कि हमे अपने काम मे इतनी अधिक आय होनी चाहिए कि हम दान-धर्म, तीर्थ यात्रा आदि अच्छी तरह कर सके। समय-समय पर ब्राह्मण भोज व जातीय भोज कराकर उसका पुण्य ले सकें। यह समझ ठीक नही। अनुचित कार्य कर धन कमाना और उस धन से कुछ पुण्य प्राप्त करने की कोशिश करना वैसा ही है, जैसा कीचड़ मे पाव रखकर पीछे उसे धोने की कोशिश करना। सात्विक ईमानदारी या मेहनत का काम करने वालो को दान-पुण्य आदि की चिन्ता मे नही पडना चाहिए। उनका काम ही यज्ञ रूप है।"[1]

महात्मा गाधी कहते हैं विना प्रामाणिक परिश्रम के किसी भी चगे मनुष्य को खाना देना मेरी अहिंसा वर्दास्त नही कर सकती। अगर मेरा वश चले तो जहा मुफ्त खाना दिया जाता है, ऐसा प्रत्येक सदाव्रत या अन्न-छत्र वन्द करा दू।[2]

आचार्य विनोवा भावे कहते हैं दुनिया मे विना शारीरिक श्रम के भिक्षा मागने का अधिकार केवल सच्चे सन्यासी को है। सच्चे संन्यासी को जो ईश्वर भक्ति के रग में रगा हुआ है ऐसे सन्यासी को ही यह अधिकार है। क्योकि ऊपर मे देखने से यह भले ही मालूम पडता हो कि यह कुछ नही करता, पर अनेकों दूसरी वातो से वह समाज की सेवा करता है। ऐसे सन्यासी को छोड़कर किसी

१ सर्वोदय दैनिक जीवन में पृ० ४०
२ सर्वोदय दिसम्बर ३८, गान्धीवाणी पृ० १५३

को अकर्मण्य रहने का अधिकार नही है।[1]

आधुनिक समाज-शास्त्र मे

आधुनिक समाज-शास्त्र मानता है समाज-सेवा का अर्थ अजानतान्त्रिक समाज-व्यवस्था मे मान्यता प्राप्त दान-पुण्य नही है। दान-प्रवृत्ति का आविर्भाव दया की भावना पर आधारित होता है और दया सर्वदा दु खित और पीडित की सहानुभूति मे पैदा होती है। जब मानव-वेदनाए नष्ट हो जाएगी, तब दया और दान के लिए कोई अवसर ही नही रहेगा। किन्तु ऐसा हो जाना अजानतान्त्रिक समाज-व्यवस्थाओ मे कभी सम्भव नही है। प्राचीन समाज-व्यवस्था मे जाति और वर्ग के भेद मूलभूत है। वहा निम्न वर्ग होता ही है और वही दया और दान का भाव जागृत करता है। उस समाज-व्यवस्था मे दान एक अनिवार्य गुण हो जाता है और वह मनुष्य के दु खो पर पलता हुआ बना ही रहना चाहता है। रामायण की एक घटना वस्तु-स्थिति पर बहुत ही सुन्दर प्रकाश डाल देती है। "राम लका-विजय कर सीता को लेकर जब अयोध्या आए, तब एक विशेष समारोह आयोजित किया गया। राम ने एक-एक करके सभी वीरो को बुलाया और उन्हे यथोचित रूप से सत्कृत किया। आश्चर्य की बात यह रही कि राम ने सर्वोत्कृष्ट भक्त हनुमान को अपने सम्मुख नही बुलाया। किसी सभासद के याद दिलाने पर राम मुस्कराये और हनुमान को बुलाया। सभी सभासदो की आखें राम और हनुमान पर टिक गई। राम ने कहा बोलो, क्या चाहते हो ? हनुमान बोले, बस यही कि सदा की भाति आपकी सेवा करता रहू। राम बोले हे हरि ! जो कुछ भी तूने मेरे लिए किया है, वह मेरे साथ ही समूल नष्ट हो जाने दे। जो व्यक्ति दूसरे का भला करना चाहता है, वह उसका दु ख चाहता है।

दान-पुण्य और जनतन्त्र व्यवस्था

"दान-पुण्य जनतन्त्र-व्यवस्था के प्रतिकूल है, क्योकि वह दया पर आधारित है। दया के भाव तभी जागृत होते हैं, जबकि दूसरो को अपने से हीन या निम्न समझा जाता है। जनतन्त्र मे कोई ऊचा या नीचा नही होता। प्राचीन अजानतान्त्रिक समाज-व्यवस्थाओ मे सम्पन्न लोगो को दरिद्र लोगो पर दया करना और अपनी कमाई मे से थोडा-सा भाग उनके लिए रख लेना, सिखलाया जाता है, जबकि दयापात्र दरिद्र लोगो को दूसरे जन्म मे सुखपूर्ण जीवन का आश्वासन दिया जाता है। 'आशीर्वाद प्राप्त वे हैं, जो कि यहा शोकग्रस्त है, क्योकि वे अग्रिम जन्म मे

१. विनोबा भावे के विचार पृ० १२०

लाभान्वित किए जाने वाले हैं।' 'यहा जो अन्तिम है, वह अगले जन्म मे प्रथम होगा और यहा जो प्रथम है, वह वहा अन्तिम होगा।' प्राचीन समाज-व्यवस्था जो कि समता और स्वतन्त्रता से रहित है, उसकी नीति और दर्शन के अनुसार जो उपदेश दिया जाता है वह कोई समाज-सेवा नही है। जनतन्त्र मे प्रत्येक व्यक्ति सामाजिक मूल्याकन मे एक दूसरे के समान है, इसलिए कल्याण का अर्थ है सभी का समान मात्रा मे कल्याण। गलियो का स्वच्छ रहना स्वास्थ्य की सुरक्षा के लिए आवश्यक है तो सभी गलियो को स्वच्छ रखना होगा, न कि केवल उन गलियो को जिनमे नगरपालिका के सदस्य रहते है। यदि चिकित्सा निशुल्क है तो वह सभी के लिए निशुल्क है।

"इस भावना को चरितार्थ करने के लिए विशेष सस्थानो की अपेक्षा है। दुनिया के कुछ विशेष भागो मे तत्सम्बन्धी कुछ विशेष प्रयोग हुए हैं स्वास्थ्य प्रवृत्तिया इस प्रकार से चलाई गई है, जिनमे रोगी के प्रति दया, आभार या वैषम्य नही बरता जाता है।

दान और मनुष्य का स्वाभिमान

"दान एक ऐसी प्रवृत्ति है, जो मनुष्य के स्वाभिमान को नीचा करती है। वह पराश्रितो की सख्या बढाती है। हम देखते है रास्तो पर भिखारी, अपाग, रोगी सहायता के लिए चिल्लाते हैं। उनमे से अधिकाश ऐसे लोग है, जो ढोग रचकर दान प्राप्त करने मे निष्णात हो चुके हैं। ऐसी स्थितिया उस समाज मे बनती है, जिसमे दान को पुण्य माना जाता है और परिणामस्वरूप पराश्रितता को बढावा दिया जाता है। मान लिया जाए हमारे समाज मे हरेक व्यक्ति को जीवन-निर्वाह के लिए कमाना होता है, पराश्रितता मान्य नही है। समाज के सामूहिक प्रयत्न मे प्रत्येक व्यक्ति को कार्य और आजीविका मिल जाती है, तो वहा दान का क्या स्थान होगा? यह क्यो आवश्यक है, एक व्यक्ति दूसरे के पास दानार्थी हो? इसमे तो असमानता पनपती है, जो कि जनतन्त्र को स्वीकार नही है।

समाज-कल्याण का अर्थ

"दान कष्टो का नाश नही करता। वह दुखी को एक क्षणिक सन्तोष देता है। जनतान्त्रिक समाज के निर्माण मे हमे सामूहिक प्रयत्नो द्वारा कष्टो का समूल अन्त करना है, क्योकि वहा सबका सुख अभीष्ट है। इसलिए सबका प्रयत्न भी अपेक्षित नव लोगो के नुव-निर्माण मे सब लोगो ने भाग लिया, अत कोई किसी क सहमानिमन्द नही है। इस प्रकार मानव का व्यक्तित्व सुरक्षित है।

मनुष्य का स्वाभिमान उस समाज मे सुरक्षित नही रह सकता, जिस समाज मे दान (Charity) अनुकम्पा (Compassion) और दया (Kindness) का ऊचा मूल्य माना गया है। मनुष्य का स्वाभिमान केवल उस समाज मे सुरक्षित रह सकता है, जहा मनुष्य की आवश्यकताओ की पूर्ति सामूहिक और सहयोगिक प्रयत्नो द्वारा ही होती है। सहयोग ही ऐसे समाज का आधार है और उस जन-तन्त्र मे यही सर्वोत्कृष्ट गुण है।

इस प्रकार जनतन्त्र मे समाज-कल्याण का अर्थ होता है—विना किसी आभार, दया, अनुकम्पा और ऐसे किसी शास्त्रोक्त पुण्य के सामुदायिक प्रयत्नो द्वारा, सामुदायिक कल्याण।[1]

समाजोपयोगिता और अध्यात्म

दान, दया और सेवा आदि समाजोपयोगी है, केवल इसीलिए इन्हे धर्म और अध्यात्म की कोटि मे ले लेना लोक-वचना है। करुणा प्रधान होने से ये समस्त व्यवहार आध्यात्मिक है, इसलिए इन्हे समाज मे अधिक-से-अधिक फैलाया जाए, यह दृष्टि भी सदोष है। वर्तमान समाज-व्यवस्था एक वर्ग को दूसरे वर्ग के लिए व एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति के लिए आभारी और अधीन बनाकर नही छोड देना चाहती। हीनता और उच्चता के पोषक समस्त व्यवहारो को वह समूल मिटा देना चाहती है। अध्यात्म का स्वरूप व्यापक है। सामाजिक लोगो को उसका पाठ देने मे यह अवश्य देखना होता है, अमुक पहलू आध्यात्मिक होते हुए भी नितान्त समाज-विरोधी तो नही है। पिता के प्रति पुत्र का मोह और पुत्र के प्रति पिता का मोह अनाध्यात्मिक तो है ही, पर पुत्र-पालन व पितृ-सेवा मत करो, यह उप-देश तो किसी धर्म या सम्प्रदाय ने जोरो से नही उठाया है, इसीलिए न कि उक्त व्यवहार वर्तमान परिवार-व्यवस्था के मेरुदण्ड है। सुदूर भविष्य मे यदि समाज किसी ऐसी व्यवस्था को अपना ले, जिसमे पारिवारिकता अपेक्षित न हो तो अध्यात्मवादियो के लिए भी दृढतापूर्वक यह कहने का समुचित अवसर बन जाएगा कि पितृ-राग और सन्तति-राग मिटा ही देना चाहिए।

धर्मोपदेशको की जागरूकता

धर्म यद्यपि व्यक्ति को समस्त राग-बन्धनो से मुक्त कर मोक्ष तक पहुचा देना चाहता है, पर मेघ शील धर्म-प्रवर्तक और धर्मोपदेशक समाज और मोक्ष के सम्बन्धो मे सदा जागरूक रहे है। भगवान महावीर ने धर्म का आगार-धर्म और अनगार-

1 The Psychological Foundations of the State p 19.

धर्म, इन दो भागों में उपदेश किया है। अनगार-धर्म अध्यात्म साधना की पराकाष्ठा का जीवन है। वह साधना मुख्यतः व्यक्तिगत है। कुछ ही व्यक्ति समाज से पृथक् रहकर अपने ध्येय में लीन होते हैं। उनकी माधुकरी जीवन-चर्या समाज में कोई असन्तुलन या विक्षोभ पैदा नहीं करती। भगवान् महावीर ने तो इस व्यक्तिगत साधना को सामाजिक रूप दिया। साधु अरण्यवासी होकर सर्वथा समाज निरपेक्ष नही होते। वे समाज के बीच में रहकर अपने आचरणों व उपदेशों से समाज को लाभान्वित करते हैं। समाज से बहुत अल्प लेते हैं और उसे बहुत अधिक देते हैं। आगार-धर्म गृहस्थों का है। उनका द्वादश व्रत रूप धर्म जितना आध्यात्मिक है, उतना समाजोपयोगी भी। इस प्रकार धर्म समाज से पृथक् होकर भी उसकी सद्व्यवस्था में एक आधारभूत नीति का रूप ले लेता है। नीति के रूप में मान्यता प्राप्त हिंसाएं क्रमशः मिटती जाए और अहिंसा अधिकाधिक विकास पाती रहे, यही समाज और धर्म के सन्तुलित जीवन-दर्शन का एक स्वरूप है।

रक्षा और उसका विवेक

रक्षा शब्द अधिकांशतः प्राण-रक्षा के अर्थ में प्रचलित हो चला है। जीवन और मरण संसारी आत्मा के सहज स्वभाव हैं। जीर्ण वस्त्रों का परित्याग कर मनुष्य नवीन वस्त्र धारण करता है, आत्मा उसी प्रकार जीर्ण शरीर को छोड़कर नवीन गति में नवीन शरीर धारण करती है।[1] भारतीय दर्शन में जीवन और मरण का यह लेखा-जोखा है। आत्मा अविनाशी है। उसी के ऊर्ध्व संचरण की चिन्ता यहां प्रमुख है। कसाई बकरे को मारने जा रहा है। दर्शक के हृदय में बकरे के प्रति करुणा उत्पन्न होती है। वह करुणाधारक दर्शक आततायी को मार-पीटकर या प्रलोभन आदि देकर बकरे को छुड़ाता है और समझता है, मैंने अपनी करुणा का निर्वाह किया है। तत्त्व-दृष्टि में वह यथार्थ करुणा या अनुकम्पा नहीं है, मार-पीट, बलात्कार है। आचार्य भिक्षु के शब्दों में "एक को चपेटा मारना और एक को पुचकारना स्पष्ट रूप में राग और द्वेष हैं।"[2] धनादि देकर बकरे को बचाना अध्यात्म तो क्या लौकिक न्याय भी नहीं है। कसाई का हृदय तो बदलता नही, प्रत्युत वह

१. वासांसि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ॥
गीता अध्याय २ श्लोक २२

२. एकण रे देरे चपेटी, एकण रो दे उपद्रव मेटी।
ए तो राग द्वेष नो चालो, दशवैकालिक संभालो ॥
अनुकम्पा चौपई गीति २ गाथा १७

एक के बदले दो बकरो को खरीदने और मारने का सरन्जाम हो जाता है।

दया का आध्यात्मिक और लौकिक स्वरूप

दया के आध्यात्मिक स्वरूप को समझना तो कठिन है ही, सर्वसाधारण के लिए उसके लौकिक स्वरूप को समझ लेना भी सहज नही है। महात्मा गाधी कहा करते थे, बहुत-से लोग चीटियो को आटा डालकर सन्तोष मानते हैं। ऐसा मालूम होता है, मानो आजकल की जीव-दया मे जान ही नही रही। धर्म के नाम पर अधर्म चल रहा है, पाखण्ड फैल रहा है।[1]

प्राण-रक्षा के सम्बन्ध मे महात्मा गाधी ने साधन-शुद्धि पर बहुत बल दिया है। वे कहते हैं यह तो कही नही लिखा कि अहिंसावादी किसी आदमी को मार डाले। उसका रास्ता तो सीधा है। एक को बचाने के लिए वह दूसरे की हत्या नही कर सकता। उसका पुरुषार्थ और कर्तव्य तो केवल विनम्रता के साथ समझाने-बुझाने मे है।[2]

एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की पीठ मे छुरा भोक रहा है, ऐसे प्रसग पर महात्मा गाधी कहते हैं, "तो क्या हमे भी अपराधी की पीठ मे छुरा निकालकर भोक देना चाहिए? मैं समझता हू यह रास्ता भी गलत होगा। हमारे लिए एकमात्र ठीक रास्ता यही होगा कि दुष्टता करने वाले से कहें कि वह निर्दोष रक्त से हाथ न रगे और यदि ऐसा करते समय हम स्वय उसके कोप-भाजन बन जाए तो हमे उसका स्वागत करना चाहिए।"[3]

साध्य और साधन का विचार

यहा साधन का विचार है, पर जिस व्यक्ति को बचाया जा रहा है, उस साध्य का नही। आचार्य भिक्षु के मन्तव्यानुसार उस प्राण-रक्षा को परम विशुद्ध और आध्यात्मिक रखने के लिए रक्षणीय पात्र का भी विवेक परम अपेक्षित होता है। जिसे हम बचा रहे हैं, वह सयति है या असयति, व्रती है या अव्रती, त्यागी है या भोगी इन तथ्यो के आधार से ही की गई प्राण-रक्षा की लौकिकता और लोकोत्तरता आकी जा सकती है। दान देते समय दाता और देय वस्तु की विशुद्धता भी जिस प्रकार अपेक्षित है उसी प्रकार पात्र की विशुद्धता भी। प्राण-रक्षा के सम्बन्ध मे रक्षक की अभिप्राय-शुद्धता व साधन की अहिंसात्मकता जिस प्रकार अपेक्षित है, उसी

१. हरिजन बन्धु ता० २९-५-४३
२. हिन्द स्वराज्य पृ० ७९
३. हिन्दुस्तान दैनिक

प्रकार रक्षित पात्र की संयमशीलता भी। गृहस्थ का शरीर अधिकरण अर्थात् जंगम, स्थावर प्राणियों के विनाश का शस्त्र है।[1] उसका संरक्षण या पोषण अध्यात्म-गत कैसे हो सकता है? गृहस्थ के जीवन में त्याग की अनिवार्यता नहीं, भोग तो अवश्यम्भावी है ही। असंयत प्राणी के संरक्षण में योग देना असंयम में ही योग देना है।

महात्मा गांधी कहते हैं जो मनुष्य बन्दूक धारण करता है और जो उसकी सहायता करता है, दोनों में अहिंसा की दृष्टि से कोई भेद नहीं दिखाई पड़ता। जो आदमी डाकुओं की टोली में उनकी आवश्यक सेवा करने, उसका भार उठाने, जब वह डाका डालता है, तब उसकी चौकीदारी करने, जब वह घायल हो तो उसकी सेवा करने का काम करता है, वह उस डकैती के लिए उतना ही जिम्मेदार है जितना कि खुद वह डाकू। इस दृष्टि से जो मनुष्य युद्ध में घायलों की सेवा करता है, वह युद्ध के दोषों से मुक्त नहीं रह सकता।[2] महात्मा गांधी का यह चिन्तन एक स्थूल घटना पर अभिव्यक्त हुआ है, इसलिए सहजतया बुद्धिगम्य होता है। आचार्य भिक्षु का मन्तव्य जीवन-व्यवहार की सूक्ष्मता में प्रकट हुआ है, अत: सर्वसाधारण के लिए सहजगम्य नहीं होता। परन्तु असंयमी पुरुष के जीने में योगभूत होना और किसी डाकू या सैनिक के कार्य में योगभूत होना चिन्तन की एक ही दिशा के उदाहरण हैं।

दो मर्यादाएं

साधारण दृष्टि में यह अवश्य आता है, आचार्य भिक्षु की करुणाधारा मानो चलते-चलते एक ही गई हो। उसके व्यापक प्रसार के लिए कोई विस्तृत अवकाश नहीं रह गया है। प्राण-रक्षा अहिंसात्मक साधनों से हो, संयति पुरुष की हो, ये दो ऐसी संकीर्ण मर्यादाएं हैं, जिनके बीच से इने-गिने लोग ही गुजर सकते हैं। परन्तु आचार्य भिक्षु की दया और अनुकम्पा अपनी परम विशुद्धि के साथ ही सहसा एक

१. सूत्र भगवती नें विषै, सप्तम सतके भेव।
प्रथम उद्देशा नें विषै, दाख्यो श्री जिनदेव॥
सामायक मांहें कही, श्रावक नी सपेख।
आतम ते अधिकरण इम, प्रगट पाठ में लेख॥
शस्त्र जे षट्काय नो, अधिकरण कहिवाय।
तसु तीखो कीधां छतां, धर्म पुण्य किम थाय॥

प्रश्नोत्तर तत्त्व बोध अ० २६, दुहा ६७-६६

२ गांधीजी, खण्ड दश, अहिंसा प्रथम भाग पृ० ४

ऐसा मार्ग पकड लेती है, जो पूर्ण यौक्तिक, पूर्ण यथार्थ और सर्वाधिक व्यापक है। उनका मन्तव्य है एक आदमी चोरी कर रहा है, बलात्कार कर रहा है या अन्य कोई दुराचरण कर रहा है, सही करुणा तो उस व्यक्ति की पतनोन्मुखता के प्रति होनी चाहिए। उसकी दुर्वृत्ति से आक्रान्त होने वाला व्यक्ति तो सहजतया ही बच जाता है, जबकि हम उस दुराचारी की आत्मा को उस आत्म-हनन से बचा लेते हैं। कसाई बकरे को मारता है। बकरे का प्राण-घात होता है, पर आत्म-पतन नही। वह यहा से मरकर और किसी श्रेष्ठ योनि को भी प्राप्त कर सकता है। पर वधिक का अधोगमन तो निश्चित है ही। इस स्थिति मे हमारा प्रथम करुणा-पात्र तो वधक ही होना चाहिए। वधक को पापाचरण से बचा लेने मे वध्य का बच जाना तो सहज है ही। इस करुणा मे वध्य का हित विघटित नही होता और वधक की करुणा हो जाती है। जन-सस्कार सर्वथा इसके विपरीत चल रहा है। 'बचाओ और रक्षा करो' का ही उद्घोष सर्वोपरि हो रहा है। वधक की करुणा से 'मत मारो' का उद्घोप प्रस्फुटित होता है। 'बचाओ' की अपेक्षा 'मत मारो' की बात अधिक यौक्तिक और व्यापक है। 'बचाओ' को ध्येय मानने मे, 'मारते रहो' का भी परोक्ष रूप से स्वीकार होता है। इससे प्राणी-वध परम्परा मिटती नही। समाज मे दो वर्ग हो जाते हैं, एक मारनेवाला, दूसरा बचानेवाला। 'मत मारो' के उदघोप को व्यापक करने मे समस्या का अन्त निकट होता है।

तीन दृष्टान्त

अहिसा और धर्म व्यक्ति को पापाचारण से बचाने मे सफल होते है। आचार्य श्री भिक्षु के तीन दृष्टान्त इस विषय मे बहुत यथार्थ हैं।[1]

१ एक दुकान के एक भाग मे साधुजन ठहरे हुए थे। रात्रि के निस्तब्ध अन्धकार मे चोर आए। धनवान् की तिजोरियो पर छापा मारा। चुपचाप धन निकालकर चलने लगे। साधुओ की नीद टूटी। देखा, चोर धन लिए जा रहे है। साधु दरवाजे पर आ खडे हुए। चोर भी सकपकाए, पर देखा सन्त पुरुष है, इनसे हमे कष्ट नही होना है। साधुओ ने उपदेश देना प्रारम्भ किया। उनकी वाणी और व्यक्तित्व से प्रभावित चोर बिना कुछ आगा-पीछा सोचे उपदेश श्रवण मे लीन हो गए। समय की बात थी। तीर खाली नही गया। धन की नश्वरता, पर-पीडन के दु खावह परिणामो को सुनकर वे चोर सज्जन हो गए। भविष्य मे कभी चौर्य कर्म करने का व्रत ले लिया। सवेरा होते-होते धनवान् अपनी दुकान पर पहुचा। सारा हाल देखकर अवाक् रह गया। चोरो ने कहा सेठजी, डरने की

१ अनुकम्पा गीति ५ गाथा १-१०

बात नही है। साधुजी ने हमे और आपको, दोनो को बचा लिया है, आपकी धन-क्षति बची है और हमारा आत्म-पतन बचा है। सेठ साधुजनो के चरणो मे गिर पडा और अपनी हार्दिक कृतज्ञताए व्यक्त करने लगा।

यहा साधुओ की प्रवृत्ति मे दो परिणाम निष्पन्न हुए है चोरो की आत्मा पापाचरण से बची है और सेठ का धन चोरी होने से बचा है। धर्म क्या है, पहला परिणाम या दूसरा ?

२ एक कसाई कुछ बकरो को साथ लिए कसाईखाने की ओर जा रहा था। सयोगवश साधुओ से साक्षात्कार हो गया। साधुओ ने उपदेश दिया तुम्हारा प्राण-वियोजन तुम्हे जैसा लगता है, इन बकरो को भी अपना प्राण-वियोजन वैसा ही लगता है। क्यो इस तुच्छ जीवन के लिए निरपराध प्राणियो की हत्या से अपने हाथ रगते हो। और भी तो अनेको आजीविकाए हुआ करती हैं। कसाई को बात लग गई। जीवन-भर के लिए तथारूप निर्मम हत्या का प्रत्याख्यान कर लिया।

यहा भी कसाई की आत्मा पापाचरण से बची और बकरे अपने प्राण-वियोजन से।

साधारणतया लोग कहेगे, चोरो और कसाई की आत्मा बची, वह भी धर्म और धन और बकरे सुरक्षित रहे यह भी धर्म। इस लोकमत को अयथार्थ प्रमाणित करने के लिए तीसरा उदाहरण दिया गया है।

३ राजमार्ग पर अवस्थित किसी एक दुकान पर साधु ठहरे थे। रात्रि के सन्नाटे मे कुछ लोग उन्मत्त गति से चले जा रहे थे। साधुओ ने समझ लिया, वेश्यागामी लोग हैं। अकस्मात् उनकी दृष्टि भी उन पर पडी। सबने प्रणाम किया। साधुओ ने अवसर पाकर वर्तालाप प्रारम्भ कर दिया। बात वही निकली जो साधुओ की कल्पना मे थी। धर्मोपदेश लगा। सबकी आखें खुल गईं। अपने प्रति ग्लानि हुई। सदा के लिए व्यभिचार का परित्याग कर लिया। प्रतीक्षा मे बैठी हुई वेश्या ऊब गई। वह उनके रास्ते पर चल पडी। जहा सब लोग थे, वहां पहुच गई। उसके प्रेमी प्रणबद्ध हो चुके थे। उसे अत्यन्त निराशा हुई। साधुओ पर और अपने प्रेमियो पर झल्लाती हुई पास के एक कुए मे जा गिरी।

यहा भी साधुओ के उपक्रम से दो फलित निकले। विषयी लोगो की आत्मा उन्नत हुई और प्रेमिका कुएं मे जा गिरी। धन का बच जाना और बकरे का बच जाना यदि धर्म है तो प्रेमिका का मर जाना क्या साधुओ के लिए पाप-बन्ध का हेतु होगा ? साराश, चोर कसाई और व्यभिचारी लोगो का आत्म-उत्थान धर्म है। शेष परिणाम उपदेश प्रवृत्ति के अवान्तर फलित रूप है। उनसे उपदेशक पुण्यभाक् या पापभाक् नहीं बनता।

साधुओं की प्रवृत्ति पापोन्मुख व्यक्तियों को ~~इस भवसिन्धु से तारने की थी,~~ न कि धनादि बचाने की या वेश्या को मारने की। जीवों का सहज जीना और मरना दया या हिंसा नहीं है। मारने की प्रवृत्ति से व्यक्ति हिंसक होता है और नहीं मारने की प्रवृत्ति से दयाशील।[1] कोई आम, नीम आदि वृक्षों को काट गिराने का त्याग ले लेता है, यह धर्म है, पर वे वृक्ष खड़े रह जाते हैं, वह धर्म नहीं है।[2] कोई लड्डू, घेवर आदि खाने का त्याग ले लेता है, यह संयम है, धर्म है, पर वे मिष्टान्न बचे रहे, वह धर्म नहीं है।[3]

आचार्य श्री भिक्षु के हृदय में लोक अज्ञान के प्रति एक व्यथा थी। उनका कहना था दया दया सभी कहते हैं और दयाधर्म उत्तम भी है, पर मोक्षोन्मुख वे ही लोग हैं, जिन्होंने दया के हार्द को पा लिया है।[4] अनुकम्पा के नाम में ही केवल नहीं भटक जाना चाहिए, उसकी अन्तर्दृष्टि से परीक्षा करनी चाहिए।[5] गाय और भैंस का भी दूध होता है और आक व थोहर का भी। आक और थोहर के दूध को पीने से मृत्यु ही होती है। इसी प्रकार सावद्य अनुकम्पा कर्म-बन्ध का कारण ही होता है।[6]

१ जीव जीवे ते दया नहीं, मरे ते हो हिंसा मत जाण।
मारण वाला ने हिंसा कही, नहीं मारे हो ते दया गुणखाण॥
अनुकम्पा चौपई गीति ५ गाथा ११

२. निम्ब अम्बादिक विरख नो, किण ही किधो हो वाढ़ण रो नेम।
इविरत घटी तिण जीव तणी, वृक्ष उभो हो तिणरो धर्म केम॥
अनुकम्पा चौपई, गीति ५ गाथा १२

३. लाडू घेवर आदि पकवान नें, खाणा छोड्या हो आतम आणी तिण ठाय।
वैराग वढ्यो तिण जीव रे, लाडू रह्यो हो तिण रो धर्म न थाय॥
अनुकम्पा चौपई गीति ५ गाथा १४

४ दया-दया सहु को कहे दया धर्म छै ठीक।
दया ओलख नें पालसी त्यारे मुगत नजीक॥
अनुकम्पा चौपई गीति ८ दुहा १

५. भोलेई मत भूलज्यो अनुकम्पा रे नाम।
कीजो अन्तर पारखा ज्यू सीझे आतम काम॥
अनुकम्पा चौपई गीति १ दुहा ४

६ गाय भैंस आक थोहर नो ए च्यारूई दूध।
तिम अनुकम्पा जाणजो राखे मन में सूध॥
अनुकम्पा चौपई गीति १ दुहा २

अल्प हिंसा और अनल्प रक्षा

मिश्र धर्म का विचार

अहिंसा के क्षेत्र मे मिश्र-धर्म का विचार भी बहुत चिन्तनीय है। सामाजिक मनुष्य की अनगिन प्रवृत्तिया तो ऐसी ही है, जिनमे हिंसा भी है और लोकोपकार भी। ऐसी प्रवृत्तिया सामान्य विचारक के मन मे सहसा भ्रम पैदा कर देती हैं। उन्हे धर्म-कार्य कहने मे अहिंसा का सिद्धान्त टूटता है और पाप-कार्य कहने मे करुणा और लोकोपकार का सिद्धान्त। जो लोग यह कहने के लिए तत्पर नही होते थे कि थोडी हिंसा मे यदि अधिक लोगो का लाभ है तो वह पुण्य-कार्य ही है, उन्होंने ऐसी प्रवृत्तियो को मिश्रधर्म के नाम से कहा। किसी क्षुधातुर व्यक्ति को मूला खिला देने मे वनस्पति के जीवो की हिंसा हुई, वह पाप है और व्यक्ति को सुख मिला, वह धर्म है।[1] कूप और वापी के निर्माण मे पृथ्वी, जल आदि के जीवो की हिंसा है और तृषातुर लोगो को जल-पान मे सुख मिला, वह धर्म है।[2]

देखने मे यह विचार कितना ही संगत लगे, पर अहिंसा के चिन्तन मे अधिक स्थायी नही हो सकता। सिद्धान्त वह है, जो आदि से अन्त तक खरा उतरे। मूला खिलाने और कुआ-बावडी बनाने के उदाहरण को यदि हम अन्य उदाहरणो के साथ परखे तो उसकी अयथार्थता स्वय स्पष्ट हो जाती है।

१ सौ व्यक्तियो को मूला, गाजर आदि खिलाकर बचाया।
२ सौ व्यक्तियो को सचित्त (सजीव) पानी पिलाकर बचाया।
३ सौ व्यक्तियो को अग्नि-ताप देकर बचाया।
४ सौ व्यक्तियो को हुक्का पिलाकर बचाया।
५ सौ व्यक्तियो को पशु-मास खिलाकर बचाया।
६ सौ व्यक्तियो को पशुओ के मृत कलेवर खिलाकर बचाया।
७ सौ व्यक्तियो को 'ममाई' करके अर्थात् रक्तौषधि के उपचार विशेष से बचाया।[3]

१. पाप लागो मूला तणो, धर्म हुओ हो खावा बचीया एह।
अनुकम्पा चौपई गीति ७ गाथा १

२. कहे कुवा वाव खणावविया, हिंसा हुई हो तिणरा लागा कर्म।
लोक पीये कुसले रह्या, साता पामी हो तिणरो हुवा धर्म॥
अनुकम्पा चौपई गीति ७ गा० २

३. अनुकम्पा चौपई गीत ७ गाथा ५-१०

हिंसा की उन्मुक्तता

अल्प हिंसा और अधिक रक्षा के विचार को यहा हिचकना पडता है। उक्त सभी कार्यों मे धर्म कहने का साहस नही हो सकता। एक मनुष्य को मारकर उसके रक्त-दान से सौ मनुष्यो को वचा लेने की वात अहिंसा और धर्म के क्षेत्र मे तो लेशतो भी नही आ सकती। साध्य की विस्तृतता मे यदि साधन को नगण्य और गौण न वनाते हैं तो जीवन-व्यवहार के कुछ एक प्रसग उलझन भरे मालूम पडने लगते है, पर साध्य की विस्तृतता मे साधन शुद्धि की वात को एक ओर छोड देने मे तो अहिंसा का कोई स्वरूप ही नही टिकता। समाज मे प्रयोजन-सिद्धि के लिए हिंसा मुक्त होकर खेलेगी और उसके साथ असत्य और असदाचार भी। आचार्य श्री भिक्षु कहते हैं कुछ जीवो की हिंसाकर कुछ जीवो को बचाने मे यदि पाप अल्प और धर्म अधिक है, तव तो हिंसा की तरह समग्र प्रकार के पाप कार्य भी इस धर्म के साधन रूप हो जाएगे।[1] कोई असत्य वोलकर जीव वचाएगा तो कोई चोरी करके। कोई अब्रह्मचर्य-सेवन से जीव वचाएगा तो कोई धनादि के प्रलोभन से।[2] दो वेश्याए कसाईखाने पर गई। वहा होनेवाला जीव-सहार देखा। एक ने अपना समस्त गहना देकर सहस्र जीव वचाए। दूसरी ने अपना शील खोकर सहस्र जीव वचाए। अहिंसावादी और हृदय-परिवर्तन मे विश्वास रखनेवाला साधननिष्ठ व्यक्ति यहा क्या कहेगा?[3] अल्प हिंसा और अनल्प रक्षा के विचार से तो सिंह और कसाई जैसे हिंसको को जहा देखे वही मारे, यह कोई वडा धर्म हो जाएगा।[2]

१. जो हिंसा करे जीव राखीया, तिणमें होसी हो धर्म नें पाप दोय।
तो इम अठारेइ जाणजो, ए चरचा में हो बिरलो समझे कोय॥

अनुकम्पा चौपई गीति ७ गाथा २३

२ जीव मारे झुठ बोल नें, चोरी करने हो पर जीव वचाय।
वले करे अकार्य एहवा, मरता राख्या हो मइथुन सेवाय॥

अनुकम्पा चौपई गीति ७ गाथा २१

३ दोय वेस्या कसाइवाडे गइ, करता देख्या हो जीवा रा सधार।
दोनू जण्या मतो करी, मरता राख्या हो जीव एक हजार॥
एकण गेंहणो देइ आपणों, तिण छोडाया हो जीव एक हजार।
दूजी छोडाया इण विधे, एका दोयां हो चौथो आश्रव सेवार॥

अनुकम्पा चौपई गीति ७ गाथा ५१-५२

आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं इस एक ही जीव को मारने में बहुत जीवों की रक्षा होती है, ऐसा मानकर हिंसक जीवों की भी हिंसा नहीं करनी चाहिए ? और न बहुत जीवों के घाती ये जीव जीते रहेंगे तो अधिक पाप उपार्जन करेंगे इस प्रकार की दया करके हिंसक जीवों को मारना चाहिए ।[1]

महात्मा गांधी ने भी ऐसे प्रश्नों पर सोचा है। वे कहते हैं मेरा कोई भाई गोहत्या पर उतारू हो जाए तो मुझे क्या करना चाहिए ? मैं उसे मार डालूं या उसके पैर पकड़कर उसे ऐसा न करने की प्रार्थना करूं। अगर आप कहें कि मुझे पिछला तरीका अख्तियार करना चाहिए तो फिर अपने मुसलमान भाई के साथ भी मुझे इसी तरह पेश आना चाहिए ।[3]

सांप और पड़ोसी

एक बार महात्मा गांधी से यह पूछा गया- आदमी अपनी प्राण-रक्षा के लिए सर्प आदि हिंस्र प्राणियों को मारे, वह हिंसा हो सकती है, पर जो मनुष्य अनेक मूल्यवान् प्राणियों को बचाने के लिए सर्प आदि को मारेगे वह हिंसा नहीं मानी जानी चाहिए। क्योंकि यदि उसे हम नहीं मारते हैं तो वह अनेकानेक प्राणियों के प्राण लेता ही रहता है।

महात्माजी ने इसके उत्तर में कहा यह दलील सदोष है कि यदि मैं किसी विषैले सांप को नहीं मारूंगा तो वह जरूर ही अनेक आदमियों और स्त्रियों की जान का ग्राहक होगा। यह मेरे कर्तव्य का अंग नहीं कि मैं तमाम विषैले जन्तुओं को ढूंढ-ढूंढकर मारता फिरूं। और न मुझे यह मान लेने की जरूरत है कि मुझे मिलनेवाले विषैले सांप को यदि मैं नहीं मारूंगा तो वह किसी राहगीर को जरूर ही डस लेगा। उस सांप और मेरे पड़ोसी के बीच मुझे न्यायकर्ता नहीं बन जाना चाहिए। यदि मैं अपने पड़ोसियों के साथ वैसा ही सलूक करूं, जैसे सलूक की आशा

१. कोइ नाहर कसाई मारनें, मरता राख्या हो घणा जीव अनेक।
जो गिणे दोयां नें सारिषा, त्यांरी विगडी हो सरधा वात ववेक ॥
अनुकम्पा चौपई गीति ७ गाथा २७

२. रक्षा भवति बहूनामेकस्यैवास्य जीवहरणेन।
इति मत्वा कर्त्तव्यं न हिंसा हिंस्रसत्वानाम्।
बहुसत्वघातिनोऽमी जीवन्त उपार्जयन्ति गुरुपापम्।
इत्यनुकम्पां कृत्वा न हिंसनीया शरीरिणो हिंस्रा॥

३ हिन्द स्वराज्य पृ० ७६

मैं उनसे करता हू। यदि मैं उनको किसी ऐसे वडे खतरे मे नही डालता, जिससे मैं हू, तो मैं समझूगा कि मैंने अपने पडोसियो के प्रति अपने कर्तव्य को पूरा कर लिया। इसलिए जैसा अक्सर किया जाता है, मैं उस साप को अपने पडोसी के हाते मैं नही छोड गा। अधिक-से-अधिक यह मैं कर सकता हू कि साप को जितना एक तरफ छोडा जा सके उतना छोडकर अपने पडोसियो को इस वात की सूचना कर दू। मैं जानता हू कि इससे मेरे पडोसियो को न तो कोई आराम मिलेगा न रक्षा ही। पर हम तो मृत्यु के मुह मे खडे रहकर सत्य की राह ढूढ रहे है।[1]

इन्द्रियवाद को मान्यता

हिंसा और अहिंसा के वीच मे इन्द्रियवाद को भी लोगो ने एक मानदण्ड मान लिया है। एकेन्द्रिय आदि जीवो की पचेन्द्रिय जीवो की रक्षा और भोगोपभोग के लिए की जानेवाली हिंसा अहिंसा ही हैं, क्योंकि पचेन्द्रिय जीव अधिक पुण्यशील और सृष्टि के ऊचे प्राणी होते है।[2] अहिंसा के विवेक मे यह विचार नितान्त मिथ्यात्व पूर्ण है। एक ओर प्राणीमात्र की समानता का यथार्थ आदर्श और दूसरी ओर इन्द्रियाविक्य का यह भेद-निरूपण किसी प्रकार सगति नही पा सकते। अहिंसा सर्वभूत कल्याणकारी है।[3] उसके साम्राज्य मे प्राणीमात्र समान हैं। स्थावर और जगम, सूक्ष्म और वादर, एकेन्द्रिय और अविकेन्द्रिय की उच्चावचता वहा मान्य नही है। मनुष्य सर्व प्राणियो मे श्रेष्ठ है, यह विचार भी लोकमत का विषय वन गया है। मनुष्य की श्रेष्ठता इतर प्राणियो के वीच विभिन्न अपेक्षाओ से ही है, परन्तु जीवमात्र की जिजीविषा अपना स्वतन्त्र मूल्य रखती है, वहा एक के लिए दूसरे का वध मान्य नही हो सकता। अन्य प्राणियो की अपेक्षा मे जिस प्रकार मनुष्य श्रेष्ठ है, उसी प्रकार मनुष्यो मे भी अनेको निकृष्ट और अनेको श्रेष्ठतर और श्रेष्ठतम हैं। इन्द्रियवाद की तरह यहा भी एक के वध और एक की रक्षा मे यह तरतमवाद मान्य करना होगा। ऊचे लोगो के लिए निम्न लोगो की हिंसा भी अहिंसा वन जाएगी। वहुत वार दो मे एक के वध की अनिवार्यता उपस्थित होने पर एक का

१. गांधीजी, खण्ड १० अहिंसा भाग १ पृ० ८५-८६

२ केइ कहे म्हे हणां एकेंद्री, पंचेंद्री जीवां रे तांइ जी।
एकेंद्री मार पंचेंद्री पोष्या, धर्म घणो तिण माहि जी ॥
एकेंद्री थी पंचेंद्री नां, मोटा घणा पुन भारी जी।
एकेंद्री मार पचेंद्री पोष्या म्हानें पाप न लागे लिगारी जी ॥
अनुकम्पा चोपई गीति ९ गाथा १९-२०

३. अहिंसा सव्वभूयखेमंकरी

वध स्वीकार किए बिना लोक-व्यवहार नहीं चलता। गर्भिणी स्त्री और गर्भ में एक की मृत्यु अनिवार्य होने पर डाक्टर और घर के लोग गर्भिणी की रक्षा को प्राथमिकता देते हैं। यह लोक नीति है। गर्भस्थ प्राणी अल्प वयस्क और अजनबी है। गर्भिणी परिवार की एक चिरन्तन सदस्या है। उनके रहते दूसरी सन्तान होने की भी आशा है, पर वह विचार अध्यात्म और अहिंसा का अंग तो नहीं बन सकता। यही लोक-नीति मनुष्य और इतर प्राणियों के बीच में बरती जाती है। अग्नि, पानी, वनस्पति आदि के स्थावर प्राणियों की हिंसा कर गाय, भैंस, घोड़ा आदि पशुओं को पाला जाता है और मनुष्य की अपेक्षा पशु-वध को कर्तव्य कहा जाता है। अहिंसा में छोटे और बड़े का भेद नहीं होता और जहां इन्द्रिय, उपयोगिता आदि के भेद हैं, वहां अहिंसा टिक नहीं सकती।

अहिंसक का उद्देश्य

अहिंसक का उद्देश्य तो हिंसा से सर्वथा मुक्त होने का है, पर अपनी साधनावस्था में विभिन्न हिंसाओं में से वह कुछ हिंसाओं का चुनाव करता है। अध्यात्म वह है, जो उसमें अहिंसा का विकास हुआ है। हिंसामात्र मनुष्य की दुर्बलता है। गांधीजी ने अपने शब्दों में कहा है हिंसा के बिना कोई देहधारी प्राणी जी नहीं सकता। जीने की इच्छा छूटती ही नहीं है। अनशन करके छूटने की इच्छा मन को नहीं है। देह अनशन करे और मन अनशन न करे तो वह अनशन दम्भ में खपेगा और आत्मा को अधिक बन्धन में डालेगा। ऐसी दयावनी स्थिति में जीने की इच्छा रखता हुआ जीव भला क्या करे? कैसी और कितनी हिंसा अनिवार्य गिने? समाज ने कितनी ही हिंसाओं को अनिवार्य गिनकर व्यक्ति को विचार करने के भार से मुक्त किया। तो भी प्रत्येक जिज्ञासु के लिए अपना क्षेत्र जानकर उसे नित्य छोटा करने का प्रयत्न तो करना बाकी रहा ही है।[1]

मिश्र धर्म पर दो और उदाहरण

मिश्र धर्म पर आचार्य भिक्षु ने सिंह और कसाई के अतिरिक्त दो उदाहरण और दिए। भयकर सर्प है, चूहों को खाता है, मनुष्यों को डसता है, बहुत सारे पक्षियों के घोसले उजाड़ देता है, किसी व्यक्ति ने म्रियमाण जीवों की अनुकम्पा कर सर्प को मार डाला। क्या यह भी मिश्र धर्म होगा?[2]

१ गांधीजी, खण्ड १० अहिंसा भाग १ पृ० १०९

२. तीजो दृष्टान्त स्वामी दियो रे, उरपुर एक अजोगो।
घणा ऊंदरां रा गटका करे रे, मनुष्य पहुंचावै परलोको।

कोई पुरुष भयकर जगलो मे आग लगा देता है, गाव-नगरो को उजाड देता है, अनेकानेक जीवो के प्राण लेता है, किसी ने यह सोचकर कि इस एक दुष्ट को मार देने से सबका बचाव होगा, उसे अचानक मार डाला। यदि मिश्र धर्म का सिद्धान्त यथार्थ है तो इस नर-हत्या को भी धर्म व पुण्य का हेतु मानना होगा।[1]

साधारण जीव-जन्तु और मनुष्य का भरण-पोषण

आचार्य भिक्षु से किसी ने पूछा, साधारण जीव-जन्तु तो मनुष्य के भरण-पोषण के लिए ही सरजे गए है, इन्हे मारने मे क्या दोष ? आचार्य भिक्षु ने कहा, इसका अर्थ है तुम भी किसी शेर के खाने के लिए बनाए गए हो। ऐसा मौका आ पडने पर तुम कोई प्रतिकार नही करोगे ? बिना किसी ननुनच के सिंह के मुह मे चले जाओगे ?

व्यक्ति ऐसा तो मैं नही करूगा।

आचार्य भिक्षु क्यो ?

व्यक्ति मुझे मरने का भय लगता है।

आचार्य भिक्षु सभी जीवो को अपने जैसा ही समझ। मरना कोई नही

मनुष्य मार परलोक पहुंचावै, घणा पख्या ना अण्डा पिण खावै।
सर्प घणा जीवां सतावै, उत्कृष्टे धूमप्रभा लग जावै जी ॥
किण ही बिचार इसो कियो रे, सर्प घणा ने सतावै।
एक सर्प मारचां थका रे, जीव घणा सुख पावै।
जीव घणा सुख पावै सुजाणी, अनुकम्पा बहु जीवारी जाणी।
सर्प मार बचाया बहुप्राणी, लाय बुझाया कहे मिश्र वाणी।

भिक्षुजसरसायन गीतिका २० गाथा ७-८

१. चौथो दृष्टांत स्वामी दियो रे, कोई पुरुष नो एहवो आचारो।
बाप मुवा पहली कह्यो रे, काल करता तिणवारो ॥
काल करता सुत कही थी बाणो, सुखे तुम्हारा निसरो प्राणो।
थां लारै अटव्यादिक बालस्यू जाणो, घणा ग्राम नगर करस्यू घमसाणो जी।
मनुष्य ढाढा घणा मारस्यूं रे, बाप ने एहवो सुणायो।
पिता पहुंतो परलोक में रे, पछै करवा लागो सहु तायो ॥
करवा लागो छै जीवा रो घमासाणो, किणहिक मन में विचारचो जाणो।
एक मारचां सूं बच बहू प्राणो, इम चिन्तव ते पुरुष ने मारचो अचाणो जी ॥

भिक्षुजसरसायन गीतिका २० गाथा ९-१०

चाहता।[1]

इसी प्रकार के एक प्रश्न पर गाधीजी लिखते हैं मुझे यह दलील नास्तिक-सी प्रतीत होती है कि परमात्मा ने कुछ प्राणियो को इसलिए बनाया है कि मनुष्य सहज आनन्द के लिए या अपने शरीर के पोषण के लिए उन्हे मारता रहे, जो निश्चय ही किसी क्षण नष्ट होने को है।[2]

हिंसा के बिना धर्म नही होता ?

आचार्य भिक्षु के पास लोक विचित्र प्रश्न घडकर लाते। वे भी उनका घडा-घडाया उत्तर देते। किसी एक व्यक्ति ने कहा, हिंसा किए बिना धर्म भी नही बन पडता। मान लीजिए दो श्रावक थे। एक को अग्नि समारम्भ का त्याग था, दूसरे को नही। दोनो ने चने खरीदे। एक ने उन्हे भूनकर भूगडे बना लिए। एक के पास यो ही रखे थे। भिक्षार्थ भ्रमण करते हुए साधु आए। जिसके पास भूगडे थे, उसे सुपात्र दान का योग मिला और तीव्र हर्ष से उसने तीर्थंकर गोत्र बाधा। जिसके पास कच्चे चने थे, वह यो ही देखता रहा। इसलिए यह सत्य है कि धर्म की निष्पत्ति मे कुछ-न-कुछ हिंसा अपेक्षित होगी ही और वह धर्म हेतु हो जाने के कारण धर्म ही मानी जाएगी।

आचार्य भिक्षु ने तत्काल उत्तर दिया मान लो, दो श्रावक थे। एक ने सदा के लिए ब्रह्मचर्य व्रत स्वीकार कर लिया, दूसरा यो ही रहा। अब्रह्मचर्य के सेवन से उसके पाच पुत्र उत्पन्न हुए। साधु गाव मे आए। उपदेश सुनकर दो बडे पुत्रो को वैराग्य हुआ। पिता ने सहर्ष उन्हे सयम-ग्रहण की आज्ञा दी। उस हर्ष मे उसने तीर्थंकर गोत्र बाधा। यहा अब्रह्मचर्य भी धर्म का कारण बना। यदि हिंसा धर्म होगी तो अब्रह्मचर्य भी धर्म होगा और निष्कर्ष रूप मे ब्रह्मचारी की अपेक्षा भोगी व सन्तानोत्पादक पुरुष श्रेष्ठ होगा, क्या इस बात को कोई भी विचारक मानेगा ?[3]

राजाज्ञा और अहिंसा

'अमारीपडह'

राजा अपने राज्य मे 'अमारीपडह' बजवाता है अर्थात् घोषणा करवाता है राज्य मे कोई पशु-वध मत करो। इस घोषणा का उल्लघन करनेवाला सजा पाता।

१ भिक्खु दृष्टान्त सं० २३६
२. गाधीजी, खण्ड १० अहिंसा भाग १ पृ० ८६
३ भिक्खु दृष्टान्त सं० २१०

है। यह प्रथा भारतवर्ष मे बहुत प्राचीन काल से रही है। यवन सम्राटो के इतिहास मे भी धर्माचार्यों की प्रेरणाओ से ऐसी राजाज्ञाओ का उल्लेख मिलता है। राजा श्रेणिक के द्वारा 'अमारीपडह' बजवाने का उल्लेख जैन आगमो मे आता है।[1] आजकल भी भारतवर्ष मे गोवध को अपराध घोषित करने का बृहत् आन्दोलन चल रहा है। ऐसी राजाज्ञाए अहिंसा की कोटि मे आ जाती हैं अथवा ये केवल लोकनीति का अग बनकर ही रह जाती हैं, यह एक जिज्ञासाओ को उभारने वाला विषय है।

अहिंसा व्यक्ति की भावनाओ से प्रस्फुटित होती है। वहा विवशताए लेशतोपि नही टिक सकती। राजाज्ञा बल-प्रयोग का एक ज्वलन्त अग है। बल-प्रयोग मे न अहिंसा है, न धर्म है। आचार्य भिक्षु कहते है कोई व्यक्ति मूला, गाजर आदि अनन्तकायिक वनस्पति खा रहा है, सचित्त जल पी रहा है, कोई दूसरा व्यक्ति आया और उसने ये सारी वस्तुए उससे छीन ली। बिना मन के कराये गए त्याग, धर्म और अहिंसा के अन्तर्गत नही आते। भोगातुर व्यक्तियो के भोग-लाभ मे अन्तराय देने से महामोहनीय कर्म का बन्ध होता है। यह दशाश्रुतस्कन्ध मे स्पष्ट बताया है।[2]

महात्मा गाधी कहते हैं मछली खानेवाले को जबर्दस्ती मछली खाने से रोकने मे बहुत ज्यादा हिंसा है। जबर्दस्ती करनेवाला घोर हिंसा करता है। बलात्कार अमानुषी कर्म है।[3]

रेवती और मांस-भक्षण

राजाज्ञा के भग मे दड का भय है। जहा भय होता है, वहा अहिंसा नही होती। वह स्फटिक की तरह पवित्र होती है। वह लोभ, ईर्ष्या, कालुष्य आदि किसी दुर्गुण के साथ नही ठहरती। वह स्वय अभय है और दूसरो के लिए अभय है। श्रेणिक राजा की अमारी घोषणा मे महाशतक श्रावक की मदविह्वला पत्नी रेवती ने छद्म-रीति से अपने ही गोवर्ग से प्रतिदिन दो-दो बछडे मरवाए और उनका

१. उपासकदशागसूत्र अ० ८, प्रश्नव्याकरणसूत्र

२. मूला गाजर ने काचो पाणी, कोई जोरी दावे ले खोसी रे।
जे कोई वस्त छोड़ावै बिना मन, इण विध धर्म न होसी रे ॥
भोगीना कोई भोगज रूंधे, बले पाड़े अन्तरायो रे।
महामोहणी कर्मज बान्धे दसाश्रुतखध माहि बतायो रे ॥

व्रतावत ढाल १ गाथा ३३-३४

३ हिन्दुस्तान

मांस खाया।[1] राज-भय से यदि वह ऐसा न भी करती तो क्या वह अहिंसा का पालन करती? कायिक हिंसा भले ही न हो, मन से तो वह घोर हिंसा करती ही होती। उस राजकीय नियन्त्रण मे रहकर भी व्यक्ति स्वय के आचरण मे अहिंसा की परिणति कर सकता है, यदि उसका विवेक प्रबुद्ध हो, वह उस नियन्त्रण को विवशता से ग्रहण नही करता। वह तो एक स्थूल निमित्त मात्र रह जाती है। वह अपनी अहिंसा-निष्ठा से और अपने जागृत विवेक से अहिंसा का पालन करता है। उसके हृदय मे विवशता जैसी कोई अनुभूति ही नही होती, परन्तु राज्य-बल अर्थात् सैनिक बल पर आधारित आदेश आदेष्टा को अहिंसक नही होने देता, भले ही उसके राज्याकुश के कारण कितने ही जीव बच गए हो। अमारी घोषणा, गोवध-निषेध आदि लोक-नीति के विषय हैं। जैसे बच्चे को डरा-धमकाकर भी क, ख सिखलाया जाता है और उसके भविष्य को सुधारा जाता है, इसी प्रकार ऐसे अधिनियमो से भविष्य मे हिंसा के सस्कार घटें, यह सोचा जाता है। पिता अपने पुत्र को मार-पीटकर भी और बन्धन मे डालकर भी धूम्रपान, मद्यपान व वेश्या-गमन आदि से बचाता है। वह अहिंसा का आचरण तो नही, पर लोक-नीति का आचरण अवश्य कहा जा सकता है। 'अमारीपडह' का भी समाज मे यही औचित्य सोचा जा सकता है।

सम्राट् अशोक का शासन काल

अमारी घोषणा भी धर्म और अहिंसा का अग हो सकती है, यदि वह मात्र धर्म प्रेरणा ही हो। उसका स्वरूप आदेशात्मक न होकर उपदेशात्मक ही हो। सम्राट् अशोक के शासन मे उपदेशात्मक और नियन्त्रणात्मक दोनो ही प्रकार काम मे लिए जाते थे विक्रमीय सवत् पूर्व १८६ मे उसने जीव-रक्षा के सम्बन्ध मे बड़े-बडे नियम बनाए। यदि किसी भी जाति या वर्ण का कोई भी मनुष्य इन नियमो को तोडता था तो उसे बड़ा कडा दण्ड दिया जाता था। कुल साम्राज्य मे इन नियमो का प्रचार था। इन नियमो के अनुसार कई प्रकार के प्राणियो का वध बिल्कुल ही बन्द कर दिया गया था। जिन पशुओ का मास खाने के काम मे आता था, उनका वध यद्यपि बिल्कुल तो बन्द नही किया गया तथापि उनके सम्बन्ध मे बहुत कड़े-कडे नियम बना दिये गए, जिससे प्राणियो का अन्धाधुन्ध वध होना रुक गया। साल मे छप्पन दिन तो पशु-वध बिल्कुल ही मना था।[2]

सम्राट् अशोक के एतद्विषयक अधिनियमो का एक ब्यौरा इस प्रकार है

१ उपासकदशागसूत्र अध्ययन ८
२. अशोक के धर्म-लेख पृ० ५१

देवताओ के प्रिय प्रियदर्शी राजा ऐसा कहते है राज्याभिषेक के छब्बीस वर्ष बाद मैंने इन प्राणियो को अवध्य कर दिया है, जैसे सुक, सारीका, अरुण, चक्रवाक, हस, नन्दीमुख, गेलाट, जतुका (चमगीदड), अम्बाकपीलिका, दुडि (कच्छवी), अनस्थिक मत्स्य, जीवजीवक, गगाकुक्कुटक, शकुल मत्स्य, कमठ, साही, पर्णशस, बारहसीगा, साड, ओकपिण्ड, मृग, सफेद कबूतर, गाव के कबूतर और अन्य सब प्रकार के चतुष्पद, जो न तो किसी प्रकार उपभोग मे आते हैं और न खाए जाते हैं। गर्भिणी या दूध पिलाती हुई बकरी, भेड और शूकरी तथा उनके बच्चो को जो छ महीने तक के हो न मारना चाहिए। कुर्कुट को वधित नही करना चाहिए। जीव सहित तुषो को नही जलाना चाहिए। अनर्थ के लिए या प्राणियो की हिंसा के लिए वन मे आग न लगानी चाहिए। एक जीव को मार दूसरे जीव को न खिलाना चाहिए। तीनो चातुर्मासिक पूर्णिमाओ के दिन तथा प्रत्येक उपवास के दिन मछली न मारनी चाहिए। इन दिनो मे हाथियो के वन मे तथा तालाबो मे कोई भी दूसरे प्रकार के प्राणी न मारे जाने चाहिए। प्रत्येक पक्ष की अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या तथा पूर्णिमा, पुष्य और पुनर्वसु नक्षत्र के दिन और प्रत्येक चार-चार महीने के त्योहारो के दिन बैल को तथा अन्य पशुओ को न दागना चाहिए।[1]

राज्याधिकारियो का दौरा

सम्राट् अशोक ने अपने राज्याधिकारियो को भी प्रचार कार्य मे लगाया था। वह कहता है मेरे राज्य मे सब जगह युक्त (साधारण कर्मचारी), रज्जुक (आयुक्त) और प्रादेशिक (प्रान्तीय अधिकारी) पाच-पाच वर्षों से धर्मानुशासन तथा अन्य कार्यो के लिए, यह कहते हुए दौरा करें कि माता-पिता की सेवा करना तथा मित्र परिचित सजातीय ब्राह्मण व श्रमण को दान देना अच्छा है। जीव-हिंसा न करना अच्छा है। कम खर्च करना और कम सचय करना अच्छा है।[2]

सम्राट् अशोक के धर्म-प्रचार मे राजनीति और धर्म का मिश्रण था। पचम स्तम्भ लेख मे बताए गए जीव-हिंसा सम्बन्धी अधिनियमो से सम्राट् की धर्म-भावना का एक परिचय मिलता है, पर दण्ड-विधान के साथ करवाई गई जीव-दया विशुद्ध अहिंसा की कोटि मे तो नही आ सकती। आज की समाज-व्यवस्था मे भी मद्यपान, पर-स्त्रीगमन, चोरी, झूठा तोल-माप, मिलावट, चोरबाजारी आदि को रोकने के नाना कानून हैं ही, पर उनका लागू होना राज-व्यवस्था का अग है, न कि अध्यात्म का। पशुओ के प्रति क्रूरता न बरते जाने के आज भी

१ अशोक के धर्म-लेख (पचम स्तम्भ लेख) पृ० ३४१-४६
२ अशोक के धर्म-लेख (तृतीय शिलालेख) पृ० १२२

अनेकों कानून हैं। शहरों में सवारी आदि के संख्या-परिमाण निश्चित हैं। सम्राट् अशोक ने भी ऐसा करके कोई अपूर्व काम किया हो, यह नहीं लगता। उसके शासन में राजनीति और धर्म कैसे मिले-जुले चलते थे, उसका एक उदाहरण चतुर्थ स्तम्भ लेख में मिलता है। सम्राट् अशोक कहता है—"आज से मेरी यह आज्ञा है कि कारागार में पड़े हुए जिन मनुष्यों को मृत्यु दण्ड निश्चित हो चुका है, उन्हें तीन दिन की मुहलत दी जाए। इस अवधि में जिन लोगों को वध का दण्ड मिला है, उनके जाति-कुटुम्ब वाले उनके जीवन के लिए ध्यान करेंगे और अन्त तक ध्यान करते हुए परलोक के लिए दान देंगे तथा उपवास करेंगे। क्योंकि मेरी इच्छा है कि कारागार में रहने के समय भी दण्ड पाए हुए लोग परलोक का चिन्तन करें।"[1] यहां एक ओर मृत्यु दण्ड की चर्चा है और दूसरी ओर धर्माचरण की। अशोक के मन में धर्म-विस्तार की उत्कट भावना थी, इसमें सन्देह नहीं। उसने अपने अभिमत को आगे बढ़ाने में कानून की अपेक्षा प्रचार का ही अधिक आश्रय लिया था। राजनीति और धर्म के उस मिले-जुले रूप में से 'नीर-क्षीर' का विवेक ही अध्यात्म और राजनीति का पृथक्करण कर सकता है।

राजाओं का परम्परागत आचार

श्रेणिक राजा ने अवध घोषणा की, यह शास्त्रों में उल्लिखित है, पर उस घोषणा का स्पष्ट रूप क्या था, यह नहीं। महाशतक की पत्नी रेवती ने जिस प्रच्छन्न विधि से मांस प्राप्त किया, उसे देखते हुए राजपुरुष उस आज्ञा को बहुत ही कड़ाकड़ी से पलाते थे, ऐसा लगता है। उपासकदशांगसूत्र में रेवती के प्रसंग विशेष से अमारी घोषणा का उल्लेख मात्र किया गया है। इससे यह नहीं सिद्ध होता कि शास्त्रकारों का ध्येय उसकी श्लाघा का रहा है। आचार्य श्री भिक्षु का अभिमत है, पुत्र-जन्मोत्सव व किसी विशेष प्रसंग पर ऐसी घोषणाओं की परम्परा राजा लोगों में रही होगी। यह राजाओं का परम्परागत आचार ही हो सकता है। यदि यह धर्म का अंग होता तो वासुदेव, चक्रवर्ती आदि भी इस सहज सम्भव धर्म से वंचित क्यों रहते? यदि बल-प्रयोग में धर्म होता तो वे यही धर्माचरण कर अधिक-से-अधिक धर्मी बन जाते।[2]

१ अशोक के धर्मलेख (चतुर्थ स्तम्भ-लेख) पृ० ३३९

२. श्रेणक राय पड़हो फेरावीयो, ए तो जाणो हो मोटा राजा री रीत।
भगवंत न सरायो तेहनें, तो किम आवै हो तिणरी परतीत॥
ए तो पुत्रादिक जायां परणीयां, ओछवादिक हो ओरी सीतला जाण।
एहवो कारण कोइ ऊपजे, श्रेणक राजा हो फेरी नगरी में आण॥

गांधीजी और अहिंसा

सत्याग्रह-विचार

आचार्य भिक्षु से लगभग सवासौ वर्ष पश्चात् महात्मा गांधी आए। अहिंसा के इतिहास मे उन्होंने भी कुछ नये अध्याय जोड़े। अहिंसा को उन्होंने एक व्यवहारिक नीति के रूप मे भी स्थापना की। सत्ता-परिवर्तन जैसे दुष्कर कार्य जो कि अब तक युद्ध से ही सम्भव माने जाते थे, उन्होंने सत्याग्रह, असहयोग आदि अहिंसा प्रधान प्रयत्नो मे भी उनको सम्भवता मानी। व्यवहार दशा मे सत्याग्रह और असहयोग आन्दोलन भले ही अहिंसा जैसे न लगते हो, पर महात्मा गांधी का प्रयत्न उनको अधिकाधिक अहिंसात्मक बनाने का ही रहा है। उनका कहना था अग्रेज लोगो के प्रति हमारे मन मे जब तक किंचित् भी कटुता और द्वेष है, तब तक हमारे ये प्रयत्न अहिंसात्मक नहीं कहे जा सकते। उनके सामने प्रश्न आया क्या सत्याग्रही कतार बांधकर खड़े हो सकते है? उन्होंने कहा यह प्रश्न ऐसे प्रसग पर पूछा जा रहा है, जहा कतार बांधकर खड़े होने मे प्रतिपक्षी के गमनागमन मे एक अवरोध करने का लक्ष्य स्पष्ट प्रतीत होता है। इसलिए यह तरीका कदापि अहिंसात्मक नही हो सकता।[1] इस प्रकार अनेको सामाजिक व्यवहारो मे अहिंसा को एक अनिवार्य नीति का रूप दिया और अनेको समस्याओ पर उनके सफल प्रयोग भी कर दिखाए।

चीनी, खादी और चाय

गांधीजी ने अहिंसा को राजनैतिक और सामाजिक सम्बन्धों से ही परखा है, पर व्यक्तिगत जीवन-साधना के सम्बन्ध से भी उन्होंने बहुत सोचा और बहुत लिखा है। जीवन-व्यवहार के नगण्य कार्य और होनेवाली नगण्य हिंसा के विषय मे भी उन्होंने अपने स्पष्ट मन्तव्य दिए हैं। अनेक स्थलो पर उनकी दृष्टि आचार्य भिक्षु की दृष्टि के साथ अद्भुत तादात्म्य रखती है। किसी एक व्यक्ति ने गांधीजी से तीन प्रश्न पूछे—

१ क्या यह बात सच है कि विदेशी चीनी मे हड्डिया तथा खून आदि अपवित्र चीजे डाली जाती है? अहिंसा का पालन करनेवाला मनुष्य क्या विदेशी शक्कर खा सकता है?

२ खादी पहनना अहिंसा का प्रश्न है या राजनीति का?

फल फूल अनन्त काय ने, हिंसादिक हो अठारे पाप नें जाण।
जोरी दावे पैला नें मना कीया, धर्म हुवे तो हो फेरे छ: धंटे में आण॥

अनुकम्पा चोपई गीति ७ गाथा ३७,४०,४६

१. गांधीजी, खण्ड १० अहिंसा भाग २ पृ० २२३ के आधार से

३ अहिंसा-व्रत का पालन करनेवाला क्या चाय पी सकता है ?

उक्त तीनों प्रश्नों का उत्तर गाधीजी ने इस प्रकार से दिया।

विदेशी चीनी के अन्दर हड्डिया आदि नहीं रहती, पर हा ऐसा सुना है कि उनका उपयोग चीनी साफ करने मे किया जाता है। यह मानने का कोई कारण नहीं कि ऐसा प्रयोग देशी चीनी के लिए नही होता है। अहिंसा की दृष्टि से सम्भवत दोनों प्रकार की शक्कर त्याज्य है। यदि लेनी ही हो तो उसकी बनावट की जाच करना उचित है। विदेशी शक्कर का त्याग स्वदेशी के उत्तेजन के लिए ही सगत है। शक्कर मात्र के त्याग के लिए अहिंसा की एक सूक्ष्म दृष्टि है। प्रत्येक प्रक्रिया मे हिंसा है। अतएव प्रत्येक खाद्य-पदार्थ पर जितनी कम प्रक्रिया हो, उतना ही अच्छा है।

खादी पहनने मे अहिंसा, राजकाज और अर्थशास्त्र तीनो का समावेश हो जाता है। पूर्वोक्त नियम के अनुसार खादी पर प्रक्रियाए कम होती हैं, इसलिए उसमे हिंसा कम है।

अहिंसा-व्रत पालनेवाला चाय पी भी सकता है और नही भी पी सकता है। चाय मे भी प्राण है। वह निरुपयोगी वस्तु है। इस कारण उसके लेने से होनेवाली हिंसा अनिवार्य नही है। अतएव उसका त्याग इष्ट है। व्यवहार मे हम इतनी बारीक बातों का ख्याल नही करते। इस कारण जिस तरह दूसरी चीजो को अहिंसा की दृष्टि से निर्दोष समझते हैं, उसी तरह चाय को भी मान सकते हैं।

माता का शिशु-प्रेम

तीनो प्रश्नो के उपसहार मे वे लिखते हैं अहिंसा एक मानसिक स्थिति है। जिसने इस स्थिति को नही समझा है, वह चाहे कितनी ही चीजो का त्याग कर दे तो भी उसे उसका फल शायद ही मिले। रोगी रोग के लिए बहुत-सी चीजो से परहेज करता है, इससे उसके इस त्याग का फल रोग दूर करने के अतिरिक्त नही मिलता। दुष्काल पीडित को यदि भोजन न मिले तो इससे उसे उपवास का फल नही मिलता। जिसका मन सयमी नही है, उसकी कृति मे चाहे सयम भले ही दिखाई दे, पर वह संयम नही है। जिस कार्य मे जिस अश तक दया है, उस कार्य मे उसी अश तक अहिंसा हो सकती है। इसलिए दया और ज्ञान की आवश्यकता है। अध-प्रेम को अहिंसा नही कहते। अधप्रेम के अधीन होकर जो माता अपने बालक को अनेक तरह दुलराती है, वह अहिंसा नही अज्ञानजात हिंसा है। मैं चाहता हू खाने-पीने की मर्यादाओं का पालन करते हुए भी लोग अहिंसा के विराट रूप को, उनकी सूक्ष्मता को, उसके धर्म को समझें।[1]

१. गांधीजी, खण्ड १० अहिंसा भाग १ पृ० १६

रामायण और महाभारत

आचार्य भिक्षु ने रामायण, महाभारत आदि प्राचीन पुराण ग्रन्थो को स्वत प्रमाण नही माना। उन्होंने जैन रामायण पर तो असगत उदन्तो के लिए परिष्कारक प्रयत्न भी किया था।

महात्मा गाधी से एक बार पूछा गया हिन्दू लोग राम के अवतार को धर्म का अवतार कहते हैं। राम ने रावण को मारा था, क्या यह बुरा किया? राम ने वालि का वध किया यह कहकर कि

अनुज वधू भगिनी सुत नारी। सुनु सठ ये कन्या सम चारी॥
इनहिं कुदृष्टि विलोकहिं जोई। ताहि वधे कछु पाप न होई॥

भगवद् गीता मे अर्जुन अपने सगे सम्बन्धियो का वध करने के लिए तैयार नही होता है। भगवान् कृष्ण उसे युद्ध करके नाश करने का आग्रह करते है। आपका अहिंसा-मन्तव्य इस विषय मे क्या कहता है?

उत्तर मे महात्मा गाधी लिखते हैं तुलसीदास ने राम के मुह मे कितनी बातें डाली हैं, जिनका मतलब मैं नही समझता। वालि सम्बन्धी सारा प्रसग ही ऐसा है। तुलसीदास ने राम के मुह से कहलाई इन पक्तियो के शब्दार्थ के अनुसार चलने से यदि कोई फासी पर न चढेगा तो वडी मुसीबत मे जरूर फस जाएगा। रामायण और महाभारत मे हर महान् व्यक्ति के सम्बन्ध मे जो कुछ कहा गया है, सबको मैं शब्दश नही ग्रहण करता हू और न मैं इन ग्रन्थो को ऐतिहासिक सग्रह मानता हू। उनमे भिन्न-भिन्न रूपो मे आवश्यक सिद्धान्तो का वर्णन मिलता है। और न मैं राम तथा कृष्ण को अस्खलनशील कभी गलती न करने वाले मानता हू, जैसा कि इन दो महाकाव्यो मे उनका चरित्र-चित्रण मिलता है। वे अपने युग के विचारो और आकाक्षाओं को प्रतिबिम्बित करते हैं। केवल अस्खलनशील व्यक्ति ही अस्खलनशील पुरुषो के चरित्र का यथार्थ चित्रण कर सकता है। ऐसी अवस्था मे उनका आशय मात्र हमारे लिए पथ-प्रदर्शन का काम दे सकता है। उनके अक्षर-अक्षर का अनुसरण करने से हमारा दम घुटने लगेगा और सब तरह की उन्नति रुक जाएगी। जहा तक गीता से सम्बन्ध है, मैं उसे कोई ऐतिहासिक सवाद नही मानता। आध्यात्मिक सिद्धान्त समझाने के लिए उसमे भौतिक उदाहरण लिए गए हैं। चचेरे भाइयो के दरम्यान हुए युद्ध का उसमे वर्णन है। 'अहिंसा परमो धर्म' जीवन का एक उच्चतम सिद्धान्त है। उसके पालन से यदि जरा भी हम च्युत हो तो उसे हमारा पतन समझना चाहिए। भूमिति की सरल रेखा काले तख्ते पर चाहे न खीची जा सकती हो, परन्तु उस कार्य की

असम्भवता के कारण वह व्याख्या नहीं बदली जा सकती ।[1]

मछली, वनस्पति और जल-जन्तु

अहिंसा के सम्बन्ध में एक प्रश्न उनके सामने आया । मछली पकड़ना हिंसा है । शाक के लिए वनस्पतियों को उखाड़ना हिंसा है । जन्तु-नाशक द्रव्य पानी में डालना हिंसा है । अब बताइए दुनिया में कैसे रहें ?

गांधीजी लिखते हैं : एक पौधे को उखाड़ना भी बुरा है । किसी खूबसूरत गुलाब के फूल को तोड़ते किसे वेदना नहीं होती ? किसी घास-पात को तोड़ते समय हमें वेदना नहीं होती, इससे कहीं सिद्धान्त में बाधा पड़ सकती है ? इससे यही सूचित होता है कि हमें पता नहीं है कि प्रकृति में घास-पात का क्या स्थान है । अतएव किसी भी प्रकार की हानि पहुंचाना अहिंसा-सिद्धान्त का उल्लंघन करना है । अहिंसा के पूर्ण पालन की अवस्था में अवश्य ही जीवन की स्थिति असम्भव हो जाती है । अतएव हम सब मर जाएं तो परवा नहीं, सत्य को कायम रहने देना चाहिए । प्राचीन ऋषि-मुनियों ने इस सिद्धान्त को आखिरी मर्यादा तक पहुंचाया है और यह कह दिया है कि भौतिक जीवन एक दोष है, एक जंजाल है । मोक्ष देहादि के परे की ऐसी अदेह सूक्ष्म अवस्था है, जहां न खाना है, न पीना है और इसीलिए जहां न दूब टूटने की आवश्यकता है और न घास-पात को तोड़ने की । सम्भव है इस तत्त्व को समझना या ग्रहण करना कठिन हो । सम्भव है कि पूर्णत: उसके अनुकूल जीवन व्यतीत करना असम्भव हो और है भी । फिर भी मुझको इस बात में कोई सन्देह नहीं है कि सत्य यही है और इसीलिए भलाई इस बात में है कि हम अपने जीवन को अपनी पूरी शक्ति भर उसके अनुकूल बनावें । यथार्थ ज्ञान हो जाना मानो आधी लड़ाई को जीत लेना है । इस भव्य सिद्धान्त का हम जितना ही पालन अपने जीवन में करते हैं, उतना ही वह जीवन रहने और प्रेम करने लायक होता है । क्योंकि उस अवस्था में बजाय खुद सदा शरीर के वश में रहने के हम अपने शरीर को अपने वश में रखते हैं ।[2]

शिशु के लिए सिंह-वध

कैलिफोर्निया (अमरीका) से किसी एक व्यक्ति ने गांधीजी से पूछा : एक कैनेडी अपनी पशुशाला में बैठा था । आंगन में उसकी पौत्री खेल रही थी । अचानक एक पहाड़ी सिंह पशुशाला में आया और लड़की पर झपटा । उस कैनेडी ने अपनी राईफल उठाई और एक ही गोली में उस शेर को मार डाला । आप बतलाइए

१. गांधीजी, खण्ड १० अहिंसा भाग १ पृ० १९-२०
२. गांधीजी, खण्ड १० अहिंसा भाग १ पृ० २०-२१

उस कॅनेडी का क्या कर्तव्य था? वह अहिंसा-धर्म का पालन करते हुए यों ही बैठे रहता, यह ठीक था या जो उसने किया?

गांधीजी ने उत्तर दिया यह बात बिल्कुल सच है कि अहिंसा की उच्चतम स्थिति पर पहुंचना बहुत ही थोड़े लोगो के लिए शक्य है। इसलिए मनुष्य जाति आम तौर पर हमेशा सिंह और शेर को मारकर अपने बच्चे और पशुओं की रक्षा करती रहेगी। पर इससे मूल सिद्धान्त मे कोई बाधा नही पडती। साधु सन्तो का जंगल मे निशस्त्र रहना और किसी भी जंगली पशु को दुःख न पहुंचाए बिना रहना, यह चमत्कार हिन्दुस्तान मे अज्ञात नही है। पश्चिम मे भी इस बात के ऐतिहासिक प्रमाण मिलते हैं।[1]

खटमल, मकड़ी का जाला व पतंगे आदि

प्रश्न माना कि मैं ससारी हू। बडा ख्याल रखने पर भी खटिया मे खटमल हो गए हैं। उन्हे उठाकर रखने मे भी कितने ही मर जाते हैं। घडे के पानी मे भी जीव पड गए हैं और उस पानी को फेंक देने पर भी उन छोटे-छोटे जीवो की हिंसा होतीहै। घर मे मकडी ने जाले बनाए हैं। उन्हे साफ करने मे भी हिंसा होती है। मान लो कि मैं एक व्यापारी हू, माल की पेटी मे जीव पड गए हैं। यदि उन जीवो को मैं दूर न करू तो माल का नुकसान होता है। मैं बाहर घूमने के लिए जाता हू तो उस क्रिया मे भी पैरो के नीचे थोडे-बहुत जीव आ जाते हैं। बत्ती जलाता हू तो वहा भी यही मुश्किल होती है। सिंहादि के विषय मे पूछना ही क्या है? ऐसे दूसरे अनेक दृष्टात मैं दे सकता हू। क्या आप उनका खुलासा कर सकेंगे? ऐसी स्थिति मे अहिंसा धर्म का पालन कैसे किया जाए?

उत्तर ऊपर कही गई सभी क्रियाओ मे अवश्य हिंसा है, क्योकि क्रियामात्र हिंसामय है और इसलिए सदोष है। भेद है तो सिर्फ कम व बेशी परिमाण का ही है। देह का और आत्मा का सम्बन्ध ही हिंसा के आधार पर रचा गया है। इसलिए देहधारी मनुष्य अहिंसा के आदर्श को दृष्टि के समीप रखकर जितना दूर जा सके, उतना दूर जाए। परन्तु अधिक-से-अधिक दूर जाने पर भी कुछ हिंसा का होना तो अनिवार्य ही होगा, जैसे श्वासोच्छ्वास लेने अथवा खाने इत्यादि मे। अनाज के प्रत्येक कण मे जीव है। इसलिए यदि हम मासाहार के बदले अन्नाहार करते हैं तो उसमे हम हिंसा से मुक्त नही गिने जा सकते हैं, परन्तु अन्नाहार मे होने वाली हिंसा को अनिवार्य समझकर उसका आहार करते

१ गाधीजी, खण्ड १० अहिंसा भाग १ पृ० ३३

हैं और इसीलिए तो भोग के लिए आहार सर्वथा त्याज्य है।[1]

महात्मा गांधी से एक भाई ने पूछा : छोटे जीव-जन्तुओं को एक-दूसरे का आहार करते अनेक बार देखता हूं। मेरे यहां एक छिपकली है। उसे यही काम करते मैं रोज देखता हूं। बिल्ली को पक्षियों पर झपटते भी देखता हूं। क्या मुझे यह देखते रहना चाहिए? उन हिंसक जीवों को रोकता हूं तो उनकी हिंसा हो जाती है। ऐसी स्थिति में आप बताएं, क्या करना चाहिए?

गांधीजी ने उत्तर में लिखा : क्या मैं ऐसी हिंसा नहीं देखूंगा? बहुत बार मैंने छिपकली को तिलचट्टों का शिकार करते तथा तिलचट्टों को दूसरे जीव-जन्तुओं का शिकार करते देखा है। किन्तु 'जीवो जीवस्य जीवनम्' एक जीव दूसरे जीव का आधार है, यह तो प्राणी-जगत् का नियम है, उसमें हस्तक्षेप करना मुझे कभी कर्तव्य नहीं सूझा। ईश्वर की इस अगम्य उलझन को सुलझाने का मैं दावा नहीं करता।

प्रश्न : हिंसा की आवश्यकता प्रमाणित हो जाने पर भी क्या सैद्धान्तिक दृष्टि उसमें बाधक होती है?

उत्तर : ऐसे अवसर पर भी जहां हिंसा की आवश्यकता सिद्ध होती हो, सैद्धान्तिक दृष्टि से हिंसा का समर्थन नहीं कर सकते। कार्य-साधकता की दृष्टि से उसका बचाव किया जा सकता है।[2]

व्यवसाय और खेती

प्रश्न : अन्य व्यवसायों की अपेक्षा क्या खेती अधिक हिंसा-जन्य नहीं है?

उत्तर : कार्यमात्र, प्रवृत्तिमात्र, उद्योगमात्र सदोष है। आवश्यक उद्यम मात्र में एक-सा दोष है। मोती के रोजगार में, रेशम के धन्धे में, सुनार के पेशे में खेती से बहुत अधिक दोष है। क्योंकि ये धन्धे आवश्यक नहीं हैं। उनमें हिंसा तो बहुतेरी हुई है। मोती हिंसा बिना मिल नहीं सकते। रेशम का कीड़ा उबाला जाता है। सुनार जो आतशी आग पैदा करता है, उसमें जलने वाले जन्तुओं से यदि पूछें और यदि वे जवाब दे सकें तो हमें उनके धन्धे की हिंसा का कुछ ख्याल हो सकता है।[3]

प्रश्न : किसी व्यक्ति या पशु को मारने वाला क्या उस वध्य को दुर्गति देने का पाप नहीं करता?

१. गांधीजी, खण्ड १० अहिंसा भाग १ पृ० ४७
२. गांधीजी, खण्ड १० अहिंसा भाग १ पृ० २६
३. गांधीजी, खण्ड १० अहिंसा भाग १ पृ० ३६

उत्तर एक मनुष्य दूसरे को मारकर उसे दुर्गति कैसे दे सकता है ? यह बात मेरी समझ के बाहर है। मनुष्य अपने ही बन्धन और मोक्ष का कारण होता है, दूसरे का नही। अहिंसा-धर्म का पालन अपने ही मोक्ष के लिए होता है।[1]

अहिंसा और उपयोगितावाद

प्रश्न क्या आपका सिद्धान्त उपयोगितावाद पर आधारित नही है। उपयोगितावाद का अर्थ है अधिकाश लोगो का अधिक लाभ। सामान्यत वह अर्थ-सिद्धि के लिए हिंसा-अहिंसा मे भेद नही मानता। आप अपना स्थिति स्पष्ट करे।

उत्तर अहिंसावादी उपयोगितावाद का समर्थन नही कर सकता। वह तो 'सर्वभूतहिताय' यानी सबके लिए अधिकतम लाभ के लिए ही प्रयत्न करेगा और इस आदर्श की प्राप्ति मे मर जाएगा। दूसरो के साथ-साथ वह अपनी सेवा भी मर कर करेगा। सबके अधिकतम सुख के अन्दर अधिकाश का अधिकतम सुख भी मिला हुआ है, इसलिए अहिंसावादी और उपयोगितावादी अपने रास्ते पर कई बार मिलेंगे, पर अन्त मे ऐसा अवसर भी आएगा, जब उन्हे अलग-अलग रास्ते पकडने होगे और किसी-किसी दशा मे एक-दूसरे का विरोध भी करना पडेगा।

अहिंसा सिद्धान्त के अनुसार यूरोपीय महासमर सरासर अनुचित मालूम होता है। उपयोगितावाद के अनुसार प्रत्येक पक्ष ने उपयोगिता के अपने विचार के अनुसार अपना पक्ष न्यायसिद्ध कर दिया है। उपयोगितावाद के सहारे जलिया वाला बाग-काण्ड को भी उसके करनेवालो ने न्याय-सिद्ध कर दिखाया। ठीक इसी तर्क से अराजक भी अपनी हत्याओ का समर्थन करते हैं, किन्तु सर्वभूतहित-वाद के सिद्धान्त की कसौटी पर इनमे से किसी भी काम को समुचित सिद्ध नही किया जा सकता।[2]

भावना और कार्य

प्रश्न मानव समाज का नाश करनेवाले आदमी के नाश को क्या आप अहिंसा न मानेंगे, जबकि वह केवल समाज-हित की भावना से ही किया जाता है।

उत्तर यह यथार्थ है कि मैंने भावना को प्राधान्य दिया, किन्तु अकेली भावना से अहिंसा नही सिद्ध हो सकती। यह सच है कि अहिंसा की परीक्षा अन्त मे

१. गाधीजी, खण्ड १० अहिंसा भाग १ पृ० ७५
२ गाधीजी, खण्ड १० अहिंसा भाग १ पृ० ८३-८४

भावना से होती है। किन्तु यह भी उतना ही सच है कि कोरी भावना से ही अहिंसा न मानी जाएगी। भावना-माप भी कार्य पर से ही निकालना पड़ता है और जहां स्वार्थ के वश होकर हिंसा की गई है, वहां भावना चाहे कितनी ही ऊंची क्यों न हो तो भी स्वार्थमय हिंसा तो हिंसा ही रहेगी। इसके उलटे जो आदमी मन में वैर-भाव रखता है, किन्तु लाचारी में उसे काम में नहीं ला सकता, उसे वैरी के प्रति अहिंसक नहीं कहा जा सकता। क्योंकि उसकी भावना में वैर छिपा हुआ है। इसलिए अहिंसा का माप निकालने में भावना और कार्य दोनों की परीक्षा करनी होती है।[1]

ज्ञानपूर्वक दया

प्रश्न मनुष्य-भक्षी जाति से मनुष्य-भक्षण छुड़ाना और पशु के मांस से अपना निर्वाह करने की बात कहना, मांस खानेवाले लोगों को फल, फूल वनस्पति से जीवन-निर्वाह करने की बात कहना क्या अहिंसा है ? अहिंसा की दृष्टि में जीवमात्र समान हैं।

उत्तर सर्वभक्षी जब दया से प्रेरित होकर भक्ष्य पदार्थों की मर्यादा निश्चित करता है, तब उस हद तक वह अहिंसा-धर्म का पालन करता है। इसके विपरीत जो रूढ़ि के कारण मांस आदि नहीं खाता वह अच्छा तो करता है, लेकिन यह नहीं कहा जा सकता कि उसमें अहिंसा का भाव है ही। जहां अहिंसा है, वहां ज्ञानपूर्वक दया होनी ही चाहिए।[2]

प्रश्न आप दया और अनुकम्पा के स्थान पर जब तब अहिंसा शब्द का प्रयोग करते हैं, इससे भ्रान्ति पैदा होती है ?

उत्तर अहिंसा और दया में उतना ही भेद है, जितना सोने और सोने के गहनों में, बीज में और वृक्ष में। जहां दया नहीं, वहां अहिंसा नहीं। अतः यों कह सकते हैं कि उसमें जितनी दया है, उतनी ही अहिंसा है। अपने पर आक्रमण करनेवालों को मैं न मारूं, उसमें अहिंसा हो भी सकती है और नहीं भी। डरकर अगर उसे न मारूं तो वह अहिंसा नहीं हो सकती। दया-भाव से ज्ञानपूर्वक न मारने में ही अहिंसा है।[3]

महात्मा गांधी के अहिंसा चिन्तन में जैन अहिंसा-दृष्टि का भी प्रभाव रहा है। गांधीजी ने जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण, हरिभद्रसूरी, हेमचन्द्राचार्य, अमृत-

१. गांधीजी, खण्ड १० अहिंसा भाग १ पृ० ११५
२. गांधीजी, खण्ड १० अहिंसा भाग १ पृ० ११७
३. गांधीजी, खण्ड १० अहिंसा भाग १ पृ० ११६-१७

चन्द्रसूरी प्रभृति आचार्यों के अहिंसा सम्बन्धी विशेषावश्यकभाष्य,[1] पुरुषार्थ-सिद्धयुपाय[2] आदि ग्रन्थ पढे हैं, ऐसा अनेक सदर्भों से स्पष्ट होता है।

तत्व-निरूपण और लोक-धारणा

अहिंसा के सूक्ष्म निरूपण वहुधा लोक-धारणा और लोक-व्यवहार के साथ मेल नही खाते। इसीलिए तो आचार्य भिक्षु को, साले का सर काट दूगा,[3] भिक्षु करोड कसाइयो से भी अधिक बुरा है,[4] जी करता है भिक्षुजी को कटारी से मार दू[5] आदि वीभत्स वाक्य अपने कानो से सुनने पडते थे। एक चर्चावादी तो उनकी छाती मे मुक्का मारकर ही चलता वना।[6] अपने निर्भीक निरूपण को लेकर उन्हे नाना लोक-यातनाओ का सामना करना पडा।

इस विषय मे गाधीजी की स्थिति भी लगभग यही थी। उनके अहिंसा सम्बन्धी निरूपणो से वहुत वार लोग वौखला उठते और अपने कटु उद्गार उन तक पहुचाते। गाधीजी ने स्वय ऐसे प्रसगो का उल्लेख किया है। उनके शब्द है कितनेक लोगो का कहना है, मेरा साठवा वर्ष वैठा है, इसलिए ही मेरी बुद्धि का नाश हुआ है। तो कितनेक लोग कहते हैं ऐसा धर्म आपको अभी बुढापे मे सूझा है क्या? यदि पहले ही सूझा था तो इतने दिन मुह मे दही जमाए क्यो वैठे थे?[7] अव आपको अहिंसा के क्षेत्र से त्याग-पत्र दे देना चाहिए।[8] आप महात्मा माने जाते हैं, इसलिए समाज के वहुत से लोग आपके रास्ते पर चलकर दुखी और पामाल हो रहे हैं।[9]

सत्य-निरूपण मे दोनो ही विचारक टलते नही थे। एक वार गाधीजी ने किसी प्रसग से कहा था मच्छरो, मक्खियो और चहो को भी जीने का उतना ही अधिकार है, जितना कि मेरा। अमेरिका के पत्रो मे इस वात का वहुत ही उपहास हुआ।

१. नवजीवन ता० १३-१-२८
२ गांधीजी, खण्ड १० अहिंसा भाग १ पृ० ७७
३ भिक्खु दृष्टान्त ६१
४ भिक्खु दृष्टान्त ८४
५ भिक्खु दृष्टान्त ७४
६. भिक्खु दृष्टान्त ४७
७. गांधीजी, खण्ड १० अहिंसा भाग १ पृ० ६६
८. गाधीजी, खण्ड १० अहिंसा भाग १ पृ० १११
९ गांधीजी, खण्ड १० अहिंसा भाग ४ पृ० ४३४

वहां के एक हितैषी ने गांधीजी को लिखा मैं नहीं मानता, आपने ऐसी वेवकूफी भरी बातें कही होंगी, अतः आवश्यक है, आप एक प्रतिवाद लिखकर भेजें, जिसे मैं यहां समाचार-पत्रों में प्रकाशित कर सकूं। गांधीजी ने उस पर लिखा खेद है, मेरी वेवकूफी को मिटाने का श्रेय आपको मिलना सम्भव नहीं है।[1]

महात्मा गांधी इन आलोचनाओं में वेदनाशील भी होते देखे जाते हैं। प्रसंगवश वे लिखते हैं मेरे नाम इस विषय में ढेरों पत्र आए हैं। इनमें से कोई मीठा, कोई तीखा और कोई कड़वा है। मेरे मित्र भी मेरा अभिप्राय नहीं समझ सके हैं। मेरे नसीब से मेरे जीवन में हमेशा ऐसा ही होता चला आया है।[2]

मैंने टीकाकारों का रोष बहुत बटोर लिया है। कोई गालियां देकर अपनी अहिंसा की परीक्षा दे रहा है, कोई सख्त टीका करके मेरी अहिंसा की परीक्षा ले रहा है।[3]

आचार्य भिक्षु का उग्र सत्य

आचार्य श्री भिक्षु से उनके उत्तराधिकारी शिष्य भारमलजी स्वामी ने पूछा आप छद्मस्थ भगवान् महावीर को चुका कहते हैं, यह लोगों को बहुत ही अप्रिय लगता है। आचार्य भिक्षु ने कहा जो मैं कहता हूं, वह सत्य है या नहीं?

भारमलजी सत्य तो है ही।

आचार्य भिक्षु फिर प्रिय और अप्रिय होने की चिन्ता मत करो।[4]

आचार्य भिक्षु से किसी ने कहा आपका उग्र निरूपण क्या वास्तव में निन्दा या हिंसा नहीं है?

आचार्य भिक्षु एक धनवान् अपने लड़के को सीख देता है, जिसका धन उधार लिया जाए, उसे यथासमय वापिस करना चाहिए, नहीं तो लोग दिवालिया कहते हैं।

पड़ोसी सचमुच ही दिवालिया था। उसे यह सीख चुभती और वह झल्लाकर कहता है, बेटे को ऐसी सीख न दिया करो, मेरी छाती जलती है।

आचार्य भिक्षु ने प्रश्नकर्ता से कहा ठीक इसी प्रकार मैं तो अपने शिष्यों को साध्वाचार सिखलाता हूं। शिथिलाचारी कुढ़ते हैं, यह तो उनका अपना ही

१. गांधीजी, खण्ड १० अहिंसा भाग २ पृ० १८०-१८१
२ गांधीजी, खण्ड १० अहिंसा भाग १ पृ० ५६
३ गांधीजी, खण्ड १० अहिंसा भाग १ पृ० १११
४ भिक्खु दृष्टान्त १७८

दोष है।[1]

आचार्य भिक्षु की दृष्टि मे पाप की आलोचना असगत नही पापी की आलोचना असगत हो सकती है।

गांधीजी की स्पष्टवादिता

गाधीजी ने चीन मे रहे पादरियो के धर्म-परिवर्तन कार्य की तीव्र आलोचना की। ईसाई जगत् मे एक उद्वेलन आ गया। वरीष्ठ लोगो ने गाधीजी को लिखा—आपका हमेशा का स्वभाव तो विशिष्ट शान्ति, धैर्य व समय से बात करने का है। आप इस कठोरता को सहज ही टाल सकते थे। इस कठोरता मे आपने पादरी-वर्ग के प्रति हिंसा की है।

गाधीजी के विस्तृत उत्तर का अभिप्राय है ईसामसीह ने अपने जमाने के कुछ लोगो को 'सापो की औलाद' कहा था। उनके शब्दो व कार्यों से लोगो को इतनी चोट पहुची कि वे उनकी जान के गाहक बन गए। क्या ईसामसीह ने वचन द्वारा हिंसा की थी?

सत्य यदि कठोर हो सकता है तो उसे व्यक्त करने का नम्रतापूर्ण मार्ग ऐसा कौन-सा है, जिससे कि विरोधी को क्रोध आए ही नही। किसी चोर के कार्य को मैं चोरी कहकर ही व्यक्त करू या 'द्राविडी प्राणायाम' जैसी भाषा मे मैं उसके विषय मे यह कहू कि वह साहूकारी के चारो ओर की भूमि मे भ्रमण करता है, हत्यारे के लिए कहू कि वह निर्दोष खून करता है। इन प्रयोगो मे भी क्या निश्चितता है कि दोषी का दिल दुखेगा ही नही। मेरे मतानुसार कठोर सत्य विवेक और नम्रतापूर्वक कहा जा सकता है। पादरियो की प्रवृत्ति के विषय मे मैंने जो वचन कहे है, वे किसी प्रकार हिंसक नही ठहरते।[2]

मत-विभिन्नता भी

आचार्य भिक्षु और महात्मा गाधी के अहिंसा-मन्तव्यो मे क्वचिद् अत्यन्त भिन्नताए भी थी। मरणशील को मृत्युदान[3] का विचार गाधीजी का अपना निराला था। आचार्य भिक्षु साधु-दीक्षा मे थे। अत. जीवन-व्यवहार मे हिंसा का अनुमोदन मात्र भी उनके लिए वर्जित था। गाधीजी एक लोकपुरुष थे। वे अपने सामाजिक दायित्व को समझते हुए समाज-धर्म के रूप मे हिंसा का आदेश व अनुमोदन भी

१ भिक्खु दृष्टान्त ६०
२ गाधीजी, खण्ड १० अहिंसा भाग २ पृ० १८३-१८४
३ विशेष विवरण के लिए देखें 'आचार्य भिक्षु और महात्मा गांधी'

करते थे। सामाजिक लोग कहा तक हिंसा कर सकते है और कहा तक नहीं, इस तथ्य को तोलने की उनके पास अपनी तुला थी। एक ओर उन्होंने अहमदाबाद के प्रमुख उद्योगपति सेठ अम्बालाल द्वारा साठ पागल कुत्तो के मरवा डालने को यह कहकर कि इसके सिवाय और दूसरा हो क्या सकता था, अनुमोदित किया और सारे देश का रोष अपने ऊपर लिया, दूसरी ओर अंग्रेजो की हत्या के लिए उग्र युवको के विषय मे पुन -पुन वे कहते रहे नौजवान मुझसे कहते है कि यदि मैं उनकी मदद नही कर सकता तो मै चुप ही रहू और उनके मार्ग मे रोडे न अटकाऊं। उन्हे मेरा यही उत्तर है कि यदि आप अंग्रेज अधिकारियो को मारना ही चाहते हैं तो उनके बजाय मुझे ही क्यो नही मार डालते ? अपने ढग से आपके मार्ग मे रोडे अटकाने के आपके आरोप का मै अपने को अपराधी स्वीकार करता हू। यह मेरा ध्येय है। मुझ पर दया न करो, मुझे सीधी राह ठिकाने लगा दो। लेकिन जब तक मेरे अन्दर प्राण हैं, मैं अपने ढग से आपका विरोध करूगा ही। यदि आप मुझे छोडते हैं तो आप सरकारी नौकरो पर, चाहे वे बडे हो या छोटे, हाथ न डालिए।

मुसलमानो द्वारा किए गए अभद्र व्यवहारो के बावजूद भी वे हिन्दुओ को अहिंसा से काम लेने की अपील ही करते रहे और उसी मे अपने प्राण दे दिए। अपने ऊपर बम फेकनेवालो को भी उन्होंने क्षमा किया था। इस प्रकार आचार और विचार से समुद्भूत गाधी-अहिंसा इस युग का एक स्वतन्त्र जीवन-दर्शन बन गई है। सुप्रसिद्ध विचारक श्री हरिभाऊ उपाध्याय लिखते हैं महात्मा गाधी ने प्रत्येक विचारधारा को परखा और उसे समन्वय दृष्टि दी। उनकी दृष्टि उसी सूक्ष्मता को पहुची, जहा उसने एक नवीनवाद का सूत्रपात किया और उसे कह सकते है गाधी-धर्म। श्रेष्ठता और सूक्ष्मता की दृष्टि मे जैन-धर्म और गाधी-धर्म सम हैं। महात्मा गाधी एक नये समन्वयात्मक धर्म के अधिष्ठाता कहे जा सकते हैं, जबकि आचार्य भिक्षु परम्परा से आते हुए एक पुरातन धर्म को नये सिरे से मान्यता देनेवाले थे। महात्मा गाधी ने गाधी-धर्म की सृष्टि की। आचार्य भिक्षु ने जैन-धर्म की पुनर्जागरणा की। दोनो का तत्त्व-चिन्तन विभिन्न परिस्थितियो मे होते हुए भी बहुत कुछ समान दृष्टि रखता है।[1]



१. भूमिका आचार्य भिक्षु और महात्मा गाधी

परिशिष्ट—१

प्रस्तुत पुस्तक के 'ऐतिहासिक दृष्टि' प्रकरण मे अहिंसा-विकास के सम्बन्ध से प्राग्-आर्य सस्कृति पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। सचमुच ही इतिहास की वह एक नई करवट है जो इतिहासकारो को अपनी वद्धमूल धारणाओ के परिवर्तन के लिए प्रेरित करती है। विद्वद्वर श्री जी० सी० पाण्डे, एम० ए०, डी० फिल० ने अपने महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'Studies in the Origins of Buddhism' मे भी इस विषय पर अपना शोधपूर्ण निष्कर्ष प्रस्तुत किया है। गवेषक पाठक के लिए उपयोगी समझकर वह यहा यथावत् उद्धृत किया जाता है।

नृतत्त्व-विज्ञान (Anthropology), भाषा-विज्ञान (Philology) और पुरातत्त्व-विज्ञान (Archaeology) ने यह स्पष्ट रूप से वता दिया है कि प्राग्-ऐतिहासिक काल से ही भारत अनेको जातियो और सस्कृतियो का देश रहा है, जहा पर इनके पारस्परिक सघर्षो ने ही इस देश के सामाजिक इतिहास को एक मुख्य चुनौती दी है। इस चुनौती को जिस शक्ति से भारतीय समाज ने झेला है, उस पर ही उसकी सफलता आधारित रही है। भारत के सास्कृतिक जीवन मे इस प्रकार वहुत प्राचीन काल से ही प्रगतिशील सामजस्य का वह लक्षण पाया जाता है, जिसने सदा अनन्त और व्याकुल करनेवाली अनेकताओ मे भी एकता को तथा सघर्ष और विरोधो के वीच भी शान्ति और समानता की खोज की है।

सिन्धु सभ्यता के आविष्कार ने भारतीय सस्कृति के उद्गम के विषय को लेकर हमारे दृष्टिकोण मे उसी प्रकार की क्रान्ति ला दी है, जिस प्रकार की क्रान्ति ईजीन सभ्यता (Aegean Civilisation) के द्वारा ग्रीक इतिहास के विषय मे हुई थी। 'यहा के मूल निवासी लोग जगली और असभ्य थे, तथा विजेता आर्य लोग सुसस्कृत थे, जिनकी सभ्यता को यहा के लोगो ने उत्तरोत्तर दूषित किया है,' भारतीय इतिहास सम्वन्धी इस धारणा को अव हम स्वीकार नही करते हैं। प्रत्युत भारत मे आर्यों के आक्रमण के विषय मे यह कहा जा सकता है कि "आर्यो[1] का आगमन जगली और असभ्य लोगो का एक ऐसे प्रदेश में प्रवेश था, जहा के लोग पहले से ही एक व्यवस्थित राज्य के रूप मे सगठित थे और उनकी

१ Piggott, Prehistoric India, pp 257-58

संस्कृति सुसभ्य और शिक्षित लोगो की संस्कृति थी; जिसकी परम्परा दीर्घकाल से स्थापित थी।" ऐतिहासिक धारणा मे यह परिवर्तन वस्तुत ही कोपरनिकस (Copernicus) की क्रान्ति से कम महत्त्व नही रखता।

सिन्धु सभ्यता के अवशेष अतिवृहत् क्षेत्र मे प्राप्त हुए हैं, जिसमे शिमला की तराइयो मे स्थित रूपड से लेकर अरब समुद्र के तट पर कराची से पश्चिम मे तीन सौ मील दूर पर आये हुए सुत्कागन-दोर (Sutkagen-dor) तक का प्रदेश समाहित होता है।[1] सौराष्ट्र के झालावाड जिलान्तर्गत रंगपुर की खुदाइयो ने निस्सन्देह रूप मे यह बता दिया है कि उनका हडप्पा की परम्परा के साथ सम्बन्ध था।[2] इस प्रकार सिन्धु सभ्यता का क्षेत्र-विस्तार अन्य सभी पूर्व प्रतिष्ठित ज्ञात सभ्यताओ से अधिक विशाल था[3], ऐसा कहा जा सकता है। यद्यपि इस सभ्यता का काल-निर्णय अभी तक अनिश्चित रूप से हुआ है, फिर भी ऐसा लगता है कि ई० पू० २३०० से भी कुछ समय पहले हुए अगेड के सारगोन (Sargon of Agade) के समय मे यह सभ्यता पूर्णत विकसित हो चुकी थी। इस प्रकार व्हीलर (Wheeler) के अनुसार सिन्धु सभ्यता का काल ई० पू० २५०० और ई० पू० १५०० के बीच का था।[4] किन्तु यह स्वीकार नहीं किया जा सकता; क्योकि इस प्रकार मानने पर वैदिक संस्कृति के विकास का काल बहुत अल्प रह जाता है। इसके अतिरिक्त उक्त मान्यता बोगाझ-कोई (Boghaz-koi) के शिलालेखो (ई० पू० १४००) द्वारा दिए गए प्रमाणो के साथ भी संगत नही होती है। उक्त शिलालेख वेदकालीन भारतीय देवताओ के विषय में उल्लेख करता है, न कि भारत-ईरानी देवो के विषय मे, ऐसा लगता है।[5] दूसरी ओर भारत पर आर्यों के आक्रमण को ई० पू० २००० मे पश्चात् का नहीं माना जा सकता।[6] इस प्रकार यदि हम ई० पू० २३०० को सिन्धु संस्कृति के काल का

१. Wheeler, The Indus Civilisation, p. 2.

२ Indian Archaeology, A Review, 1953-54, pp 6-7

३. Wheeler, loc cit

४ Wheeler, op cit. p 4, Ibid, pp 84-93 Cf Piggott, op. cit, p 211, 214 ff, 240-41

५ Winternitz, History of Indian Literature, vol I, p 305; Cf The Vedic Age (ed R C Majumdar) p 204, Cambridge History of India, vol 1, pp 72-73.

६ ऋग्वेद संहिता के प्राक्तम मन्त्रो के काल-निर्णय के लिए, देखें, Winternitz, op. cit. p 310.

मध्य मान ले, जिस समय कि वह संस्कृति अपने विकास के चरम शिखर पर थी तो ई० पू० २८००-ई० पू० १८०० तक का काल सिन्धु सभ्यता का समय माना जा सकता है। यह मान्यता पुरातत्त्व, वैदिक भाषा-शास्त्र, प्राचीन भारतीय इतिहास और प्राचीन समीप-पूर्वीय इतिहास के द्वारा दिये गये प्रमाणो के साथ सुसगत होती है।

जहा वैदिक सभ्यता और सिन्धु सभ्यता के परस्पर सम्बन्ध का प्रश्न है, वहा पर यह मानना कि वैदिक सभ्यता सिन्धु सभ्यता से प्राचीन है अथवा सिन्धु सभ्यता के प्रवर्तक आर्य थे[1], अत्यन्त ही काल्पनिक होगा। सर ज्होन मार्शल ने सुनिश्चित रूप से यह सिद्ध कर दिया है कि सिन्धु सभ्यता आर्यो की वैदिक सभ्यता से बिल्कुल ही भिन्न तथा उससे प्राचीन सभ्यता थी।[2] पहले की धारणाओ के अनुसार प्राग्वैदिक और अनार्य सिन्धु सभ्यता तथा आर्य-वैदिक सभ्यता के बीच समय का अन्तर अति-दीर्घ था। किन्तु आधुनिक पुरातत्त्वीय विकास से इन दोनो सभ्यताओ के बीच का काल-अन्तर कुछ कम हुआ है।[3] सिन्धु सभ्यता का विनाश आक्रान्ता आर्यो की हिंसक प्रवृत्तियो के कारण हुआ था, ऐसा अनुमान है। ऋग्वेद मे 'पुर' के विनाश का उल्लेख, प्राग्-आर्यों के प्राकार सहित नगरो और किल्लो का ही उल्लेख है, ऐसा माना गया है।[4] इन्द्र की दास और दस्युओ के साथ की लडाई आर्यो और अनार्यो के बीच सघर्ष के रूप मे मानी गई है।[5] इन्द्र ने पानी की मुक्ति का जो पराक्रम किया, वह पिग्गोट के अनुसार तो हडप्पा के नगरो मे बाढ से बचने के लिए बाधे गये बाधो के विनाश का ही उल्लेख है।[6] फिर भी प० के० चट्टोपाध्याय ने यह निश्चय पूर्वक बताया है कि दास और दस्यु से वस्तुत कोई अनार्य मनुष्य का तात्पर्य नही है, किन्तु जैसे परम्परा मे माना

१ Cf The Vedic Age, pp 194-95, L Sarup in Indian Culture, IV
२ Marshall, Mohanjo-daro and Indus Cilisation
३ उदाहरणार्थ देखें, Indian Archaeology, A Review, 1953-54
४ Wheeler, op cit p 90, Piggott, op cit pp 261-63
५ Cambridge History of India, vol 1, pp 84, 86, Keith, Religion and Philosophy of the Veda, vol I p 234, Macdonell, Vedic Mythology, p 157, Piggott, loc cit
६ Piggott, loc cit

जाता है, तदनुरूप राक्षसों का ही उल्लेख है।[1] इन्द्र देव होने के कारण वैदिक क्रियाकाण्ड के शत्रु, काले और बेढंगे आकार वाले, विचित्र माया वाले और दुष्ट राक्षसों के साथ युद्ध करे, यह स्वाभाविक ही है। उनके किल्ले और नगर केवल बादलों के ही काल्पनिक और नाटिकीय रूप हैं। हां, यह तो माना जा सकता है कि आर्यों के आक्रमण ने कुछ समय के लिए उस प्रकार के विचित्र युद्ध के दृश्य उपस्थित कर दिये हों, जिनसे सम्भवत: देव और राक्षसों के बीच के युद्ध की कल्पना और पौराणिक धारणा बनी हो। इस प्रकार यह धारणा सम्भवत वास्तविक और ऐतिहासिक युद्ध की ही परोक्ष और काल्पनिक प्रतिध्वनि हो। यह तो स्पष्ट ही है कि ऋग्वेद संहिता में इस प्रकार का कोई प्रत्यक्ष उल्लेख नहीं है, जिसमें यह बताया गया हो कि काले रंग वाले, चिपटी नाक वाले आदिवासी दास और दस्यु नामक लोगों के साथ आर्यों का युद्ध हुआ था। यद्यपि इसमें तो कोई सन्देह ही नही है कि आर्यों के भारत पर आक्रमण के समय जो अनार्य लोग यहां पर थे, वे अत्यधिक सभ्य थे और इनके और आर्यों के बीच संघर्ष हुआ था, फिर भी इसके आधार पर हम पौराणिक मान्यता को इतिहास में नहीं बदल सकते। इस सम्बन्ध से सीधी-साधी बात तो यह है कि सिन्धु सभ्यता के आविष्कार से पहले भारत के आधुनिक इतिहासकारों में यह एक धारणा-सी बनी हुई थी कि भारत के प्राग्-आर्य निवासी जन काले और जंगली थे, राक्षसों जैसे थे। इसके फलस्वरूप ही जहां भी उन्हें राक्षसों का वर्णन उपलब्ध हुआ, वहां पर उनकी कल्पना में भारत के प्राग्-आर्य निवासियों का चित्र ही उपस्थित हुआ।

सिन्धु-सभ्यता के लोग कौनसी जाति के थे, यह कहना वर्तमान में कठिन लगता है। फिर भी अनुमानत उनमें कई प्रकार के लोग थे, जिनमें मूल-आस्ट्रलोइड (Proto-Australoids), भूमध्यीय (Mediterraneans) और मंगोल जाति (Mongoloids) के लोग भी सम्मिलित थे।[2] जैसे कि कई बार माना जाता है, सिन्धु[3] सभ्यता को द्रविड़ों की सभ्यता मानना, कोई निश्चित प्रमाण

१ देखें, K Chattopadhyaya · Dasa and Dasyu in the Rgveda (Proceedings of the Nineteenth International Congress of Orientalists held at Rome.)

२ Wheeler, op. cit pp 51. 52- Cf. S K Chatterji in Vedic Age, pp 145 ff

३ S K Chatterji, op. cit. pp 156-8; C Kunhun Raja in History of Philosophy, Fastern and Western (Ed S Radhakrishnan) p. 38.

पर आधारित नही है।

इन प्राग्-आर्यो की संस्कृति मे नि सन्देह रूप से भौतिकता का विकास भी उच्च स्तर का हुआ था। आध्यात्मिकता के क्षेत्र मे इनके द्वारा किए गए विकास को हम अब तक जान नही पाये हैं। जिसके मुख्यतया दो कारण हैं एक तो लिखित सामग्री की अल्पता और दूसरा उनकी लिपि के ज्ञान का अभाव। किन्तु "यह विरोधाभास-सा लगता है कि सिन्धु सभ्यता ने उसके उत्तरवर्तियो को आध्यात्मिकता की जो विरासत दी, वह अब तक भी सुरक्षित है, जबकि आज केवल उस सभ्यता के स्मारक-चिह्न के रूप मे जो भौतिक सभ्यता हमे उपलब्ध होती है उसकी धारा को प्रवाहित करने मे वह असफल रही है।[1]" इस बात को अस्वीकार नही किया जा सकता कि पश्चात्‌कालीन भारत मे प्रचलित धार्मिक जीवन तत्त्वो मे से कुछेक सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व सिन्धु सभ्यता की ही देन है। इनमे कुछ एक उल्लेखनीय हैं · शिव सदृश देव की पूजा, जो देव पशुपति, योगी और सम्भवत नटराज के रूप मे बताया गया है, देवी-माता की पूजा, पीपल वृक्ष की पूजा, वृषभ की पूजा और कुछ एक देवो से सम्बन्धित अन्य पशुओ की पूजा।[2] लिंग-पूजा (शिश्न-पूजा) और पानी की पवित्र होने की मान्यता भी सम्भवत सिन्धु सभ्यता से ही प्रचलित हुई है[3]। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है, वह निश्चित और स्पष्ट आकृति, जिसमे व्यक्ति पद्मासन मुद्रा मे स्थित है और उसने लम्बे हाथ करके हथेलियो को घुटनो पर रखा है।[4] इसके अतिरिक्त एक आकृति

१ Wheeler, op cit p 95

२ Marshall, Mohanjo-daro and Indus Civilisation, vol 1, pp 77-8, Mackay, The Indus Civilisation, pp 96-7, Wheeler, op cit pp 67, 83-4, Piggott, op cit pp 201-3

३ Mackay, op cit pp 77-8, 85, Wheeler, op cit p 83, Piggott, loc cit, ऋग्वेद संहिता के शिश्न-देवो के विषय में जानकारी के लिए देखें, Proceedings and Transactions of all India Oriental Conference, Patna, 1930, pp 501-2, के० चट्टोपाध्याय, प्रवासी, भाग ३७, खण्ड २, पृ० ५५६, टिप्पणी २।

४ एक ही स्थान से मिली तीन मुद्राओ (देखें, Wheeler, op cit p 79) में जो आकृति पाई जाती है, उसको मार्शल ने 'पशुपति' के रूप में पहचाना है (Marshall, op cit vol 1, p 70)। व्हीलर ने उस आकृति को 'ध्यानस्थ और भयानक' बताया है (op cit p 83)। के० ए० नीलकण्ठ

है जिसमें शाम्भवी मुद्रा[1] के सदृश आसन लगता है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि भारत में योगाभ्यास का प्रचलन सम्भवतः सिन्धु सभ्यता में ही प्रारम्भ हुआ हो।[2] देवों की मूर्ति-पूजा का मूल स्रोत प्राग्-आर्य काल में माना गया है, जिसमें सिन्धु-सभ्यता भी आ जाती है।[3] इस प्राग्-वैदिक पृष्ठभूमि के आलोक में यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक युग में जो सांस्कृतिक विकास हुआ वह आर्यों और अनार्यों के तत्त्वों के एकीकरण के रूप में हुआ था, जिसने उस युग के अन्त में धार्मिक विचारों की एक वास्तविक क्रान्ति को जन्म दिया। प्रारम्भिक युद्धों के पश्चात् धीरे-धीरे आर्यों अनार्यों के बीच की भेद-रेखा धुंधली बनने लगी हो, ऐसा लगता है, क्योंकि ज्यों-ज्यों आर्यों में यहां पर स्थायी रूप से निवास करने की वृत्ति पनपी, त्यों-त्यों उन्होंने अन्तर्जातीय विवाह को भी अपनाया, जिसका स्पष्ट प्रतिबिम्ब बाद में जातिवाद के विकास में देखने को मिलता है और इनका प्रभाव आर्यों की भाषा पर भी पड़ा।[4] इस प्रकार उत्तर वैदिक काल में जातीय भेद-भाव की और रंग भेद की भावना का लोप होने लगा था। वेदों के

शास्त्री ने मार्शल द्वारा अभिज्ञात मत के विषय में सन्देह दिखाया है, किन्तु योग की प्राचीनता तो उन्होंने भी स्वीकार की है, जैसे कि उन्होंने लिखा है, 'योगासन में स्थित आकृति एक पुरुष प्रतिमा में भी पाई जाती है तथा एक चीनी मिट्टी की विशिष्ट प्रकार की मुद्रा में भी उसी योगासन स्थित कोई देव के आगे वन्दन करता हुआ नाग दिखाई देता है (The Cultural Heritage of India, vol. II p 22) तथा पत्थर की प्रतिमा में एक आकृति योगासन में स्थित-सी लगती है, जिसके लिए देखें, Wheeler, op. cit, Plate XVII A

१. Wheeler, op cit Plate XVI; शाम्भवी मुद्रा का वर्णन इस प्रकार मिलता है· "अन्तर्लक्ष्य बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जितः।" (सदृशता के लिए, घेरंड संहिता, ३-६४) व्हीलर ने संकीर्ण आंखों के यौगिक प्रतिपादन के विषय में सन्देह व्यक्त किये हैं। (Wheeler, op cit. P 64)

२. सदृशता के लिए देखें, पं० के० चट्टोपाध्याय, प्रवासी, भाग ३७, खण्ड २, पृ० ५५७ से आगे, R P. Chanda, Indo-Aryan Races, pp 99 ff, 148 ff

३. S K. Chatterji, Vedic Age, pp 160-1

४. Cambridge History of India, vol I, p. 110, S K Chatterjee, op cit p 157.

समस्त सकलन और वर्गीकरण का श्रेय व्यासजी को दिया जाता है, जिनके देह मे अनार्य रक्त का होना निस्सन्देह रूप से सिद्ध हो चुका है[1]। यह जानना रोचक होगा कि बृहद् आरण्यक उपनिषद् मे काले रग वाले और लाल आखो वाले पुत्र की प्राप्ति के लिए वैदिक मत्रो का उल्लेख किया गया है,[2] इसकी विरोधोक्ति पतजलि के उस वर्णन मे मिलती है जिसमे उन्होने ब्राह्मण को गौरवर्ण युक्त स्वस्थ शरीर और पिंगल केशवाला बताया है।[3] उत्तर वैदिक काल मे ज्यो-ज्यो आर्य उत्तर-पूर्वी भारत मे पहुचे, त्यो-त्यो आर्य और प्राग्-आर्यों का जातीय मिश्रण और उससे उद्भूत मिश्रित प्रजा मे उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई। पिग्गोट ने लिखा है "पजाब मे प्रथम बार के आर्यों के तीव्र प्रभाव के पश्चात् कोई एक प्रकार की कार्यवाहक पद्धति अपनाई गई थी, यदि वहा नही तो जैसे सीमा का विस्तार पूर्व की ओर हुआ वैसे पूर्व मे गगा द्वारा सीचित क्षेत्रो मे यह हुआ और हडप्पा के विचारो ने (सिद्धान्तो ने) ब्राह्मणो के विचार पर अपना प्रभाव जमा लिया।[4] शतपथ ब्राह्मण मे एक प्रसिद्ध उद्धरण इसके सदर्भ मे मिलता है, जिसमे आर्यो के पूर्व प्रदेश के गमन के विषय मे यह कहा गया है कि कौशल और विदेह के बीच बहनेवाली सदानीरा को पार करके वे कौशल से भी आगे विदेह मे सस्थापित हुए।[5] जिस प्रकार बृहदारण्यक उपनिषद् मे जनक के युग की झाकी से तथा बौद्ध और जैन साहित्य से पता चलता है, विदेह शीघ्र ही प्रभावशाली बौद्धिक प्रगति का केन्द्र बन गया। इस प्रकार यह लगता है कि उत्तर वैदिक काल मे आर्यों के समाज और विचारो का विकास एक ऐसी स्थिति मे पहुचा था, जहा पर कि प्राग्-वैदिक और प्राग्-आर्य विचार-धाराओ का पूरा प्रभाव उस पर पडा। ये विचारधाराए उन

१. सदृशता के लिए, एस० के० चटर्जी, भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, पृ० ५३-५४. (राजकमल, १९५४)

२ अथ य इच्छेत्पुत्रो मे श्यामो लोहिताक्षो जायेत, त्रीन् वेदाननुब्रुवीत, सर्वमायुरियादिति, उदौदन पाचयित्वा। सर्पिष्मन्तमश्नीयाताम् ईश्वरौ जनयितवै।

बृहदारण्यकोपनिषद् ६-४-१६.

३ गौर शुच्याचार कपिल पिंगलकेश इति एनान् अप्यभ्यन्तरान् ब्राह्मण्ये गुणान् कुर्वन्ति।

पाणिनि पर महाभाष्य, २-२-६.

४. Piggott, op. cit. p 286.

५. शतपथ ब्राह्मण १, ४, १, १० से १७.

श्रमण-शील साधुओं और योगियों द्वारा प्रचारित होती रही जिनकी परम्परा प्राग्-वैदिक काल से ही जीवित थी और जिनको वैदिक साहित्य में[1] 'मुनि' तथा बुद्ध और महावीर के युग में 'श्रमण' अभिधान के द्वारा स्थापित किया गया।



१. ऋग्वेद संहिता, १०-१३६.

अहिंसा पर्यवेक्षण में प्रयुक्त ग्रन्थ

१. अंगुत्तरनिकाय
२ अध्यात्मविचारणा
३ अनुकम्पा चौपई
४ अमितगति श्रावकाचार
५ अशोक के धर्म-लेख
६ अहिंसा
७ अहिंसा के आचार और विचार का विकास
८ आचारांग सूत्र
९ आचार्य चरितावलि
१० आचार्य भिक्षु और महात्मा गांधी
११. आवश्यक निर्युक्ति
१२ आवश्यकसूत्र
१३. ईश्वर गीता
१४ उत्तराध्ययनसूत्र
१५. उपासकदसांगसूत्र
१६ ऋग्वेद
१७. ऋषभचरित्र
१८ कर्मयोग शास्त्र
१९ कल्पसूत्र
२० गांधी और गांधीवाद
२१ गांधी वाणी
२२. गांधीजी, खण्ड दर्श, अहिंसा प्रथम भाग
२३. गांधीजी, खण्ड दर्श, अहिंसा द्वितीय भाग
२४ गांधीजी, खण्ड दर्श, अहिंसा चतुर्थ भाग
२५ गीता
२६. गीता-रहस्य
२७ गीता रामानुजभाष्य
२८ गीता शांकरभाष्य
२९ छान्दोग्य उपनिषद्

३० जम्बूदीवपण्णत्तिसूत्र
३१ जिन आगारी चौपई
३२ जैन दर्शन और आधुनिक विज्ञान
३३ ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र
३४ ठाणांगसूत्र
३५ तत्त्वार्थसूत्र
३६ त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्रम्
३७ दशवैकालिकसूत्र
३८ द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका
३९ धर्म अधिकरण
४०. धर्मरत्न प्रकरण
४१ नवजीवन
४२ निशीथसूत्र
४३. निशीथसूत्रचूर्णिका
४४. निशीथसूत्रभाष्य
४५. पंचाशक
४६. पातंजलयोग सूत्र
४७ पातंजलयोगसूत्र भाष्य
४८ पार्श्वचरित्र
४९ पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म
५० पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय
५१. प्रमाणवार्तिक
५२ प्रश्नव्याकरण सूत्र
५३ प्रश्नोत्तरतत्त्वबोध
५४ बारहव्रत री चौपई
५५ बृहत्कल्पभाष्य
५६ बृहदारण्यक उपनिषद्
५७ बोधिचर्यावतार
५८ बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन
५९ बौद्धधर्म
६० बौद्धधर्म-दर्शन
६१. ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य
६२. भगवती सूत्र
६३. भगवती सूत्रवृत्ति

६४. भगवान् बुद्ध
६५ भारतीय वाङ्मय
६६ भारतीय सस्कृति और अहिंसा
६७ भिक्खु दृष्टान्त
६८ भिक्षुजसरसायन
६९ मगल प्रभात
७० मनुस्मृति
७१ महाभारत
७२ युद्ध और अहिंसा
७३ लोकेजी की हुण्डी
७४ विनोबा के विचार
७५ विशुद्धिमग्ग
७६ व्यापक धर्म-भावना
७७ व्रत अव्रत री चौपई
७८ शान्तसुधारसभावना
७९ श्री जैनसिद्धान्तदीपिका
८० सयुत्तनिकाय
८१ सत्य की खोज मे
८२ सद्धर्ममण्डन
८३ सर्वोदय
८४ सर्वोदय दैनिक जीवन मे
८५ सूत्तनिपात
८६ सूत्रकृतागसूत्र
८७ स्वतन्त्रता की ओर
८८ हरिजन
८९ हरिजन बन्धु
९० हाजरी
९१ हिन्द स्वराज्य
९२ हिन्दुस्तान
93 A Review of Indian Archaeology (1953-54)
94 Ahinsa in Indian Culture
95 Ancient India (An Advanced History of India–Part I)
96 Bodhisatva Doctrine in Buddhist Sanskrit Literature
97 Cambridge History of India

98 Elements of Jainism
99. History of Indian Literature
100. History of Philosophy, Eastern and Western
101 Indian Culture
102 Indian Thought and its Development
103 Indo-Aryan Races
104 Mohenjo-daro and the Indus Civilization (1931) vol I
105. Prehistoric India
106 Religion and Philosophy of the Veda (vol. I)
107. Studies in Philosophy (vol I)
108 Studies in the Origins of Buddhism
109 The Cultural Heritage of India (vol II)
110. The Indus Civilisation (by Mackay)
111 The Indus Civilisation (by Wheeler)
112 The Psychological Foundations of the State
113 The Religion of Ahinsa
114. The Vedic Age
115 Vedic Mythology
116. Voice of Ahinsa

शब्दानुक्रम

अ

आ

प

भ

म

श

लेखक की अन्य कृतियां

१ अणुव्रत जीवन-दर्शन (हिन्दी और अंग्रेजी)
२. अणु से पूर्ण की ओर
३. प्रेरणा-दीप
४ अणुव्रत-विचार
५. अणुव्रत-दृष्टि
६. अणुव्रत-क्रान्ति के बढते चरण
७. अणुव्रत-आन्दोलन
८ अणुव्रत-आन्दोलन और विद्यार्थी वर्ग
९. जैन-दर्शन और आधुनिक विज्ञान (हिन्दी और अंग्रेजी)
१०. आचार्य भिक्षु और महात्मा गाधी (हिन्दी और गुजराती)
११ युग प्रवर्तक भगवान् महावीर
१२. तेरापन्थ दिग्दर्शन
१३. युग धर्म तेरापन्थ (हिन्दी और कन्नड़)
१४. नवीन समाज-व्यवस्था मे दान और दया (हिन्दी और अंग्रेजी)
१५. बालदीक्षा एक विवेचन
१६ आचार्य श्री तुलसी : एक अध्ययन (हिन्दी और अंग्रेजी)